हमारी सभ्यता
और
विज्ञान-कला

लेखक
हंसराज अग्रवाल
मनोहरलाल गौड़

हमारी सभ्यता और विज्ञान-कला

लेखक
हंसराज अग्रवाल एम. ए.
अध्यक्ष हिन्दी तथा संस्कृत विभाग
गवर्नमेंट कालिज, लुधियाना
तथा
मनोहरलाल गौड़
एम. ए., एम. ओ. एल.

(१९५०)

भारतीय साहित्य मन्दिर, दिल्ली

प्रकाशक
भारतीय साहित्य मन्दिर,
दिल्ली।

मूल्य ढाई रुपये

मुद्रक
न्यू इण्डिया प्रेस,
नई दिल्ली।

भूमिका

हमारी सभ्यता की श्रेष्ठता और विज्ञान-कला के गौरव को कौन नहीं जानता! संसार में सबसे ऊंची चोटी वाला हिमालय और आकाश में अनादि काल से चमकने वाले सूर्य और तारे हमारे प्राचीन वैभव और ऐश्वर्य के साक्षी हैं। ईसा से पूर्व जब पश्चिम अपनी अर्ध-नग्न बर्बर अवस्था को व्यतीत कर रहा था, हमारा भारत उन्नति के शिखर पर था। नाना देशों के विद्यार्थी दूर-दूर से आकर हमारे विश्वविद्यालयों में शिक्षा ग्रहण करते थे और हमारी सभ्यता और विज्ञान-कला को सीखते थे। परन्तु समय पलटा और हम चक्रवर्ती सम्राट् से पराधीन सेवक बन गए। पाश्चात्य सभ्यता और विज्ञान-कला ने हमको चकाचौंध कर दिया और हम मुग्ध होकर उसी के गुण-गान करने लगे।

जिस देश और जाति को अपनी सभ्यता और संस्कृति का न ज्ञान है न गर्व, वह देश और वह जाति कभी भी समुन्नत अवस्था को प्राप्त नहीं हो सकती। इस बात की अत्यन्त आवश्यकता है कि हम अपनी सभ्यता और विज्ञान-कला की उच्चता और महत्ता को भली प्रकार जानें। इस पुस्तक में 'हमारी सभ्यता और विज्ञान-कला' के उत्कर्ष का केवल दिग्दर्शन कराया गया है। यह विषय बड़ा विस्तृत और गम्भीर है, तो भी अधिक-से-अधिक सामग्री रोचक और सरल भाषा में संक्षेप से देने का भरसक प्रयत्न किया गया है। इतने थोड़े पृष्ठों में इससे अधिक सामग्री देना सम्भव भी नहीं था।

आशा है कि इस पुस्तक को पढ़ जाने के बाद पाठक के हृदय में भारतीय सभ्यता और विज्ञान-कला के प्रति यथेष्ट श्रद्धा और अभिमान की उत्पत्ति हो सकेगी। बस, यही इस पुस्तक के लिखने का एक मात्र उद्देश्य है।

—: सूची :—

पहला भाग

हमारी सभ्यता का विदेशियों पर प्रभाव

प्राचीन युग

भारतवर्ष की सभ्यता, संस्कृति एवं साहित्य का इतिहास अभी तक एक जटिल समस्या बना हुआ है । या यों कहना चाहिए कि बहुत से लोगों ने बना दिया है । भारत पर बहुत पहले से ही बाहर के देशों से समय-समय पर आक्रमण होते रहे हैं । उन आक्रमणों का बड़ा अनोखा फल रहा । कुछ लोग तो मार-धाड़ करते हुए यहां विजिगीषु बनकर प्रविष्ट हुए । उन्होंने देश का बहुत-सा हिस्सा अपने अधिकार में भी कर लिया । उस पर थोड़े-थोड़े समय शासन भी किया । परन्तु इस देश के लोगों के रहन-सहन के ढंग एवं आध्यात्मिक विचारों ने उन पर ऐसा प्रभाव डाला कि वे हिन्दू जाति में ही मिल गए; हमारे विचार उनके विचार हो गए और हमारे आदर्श उनके भी जीवन के आदर्श बन गए । एक तरीके से कहा जा सकता है कि वे लोग अपनी तलवार ऊंची करके देश में आए और अपना मस्तक भारतीय सभ्यता के चरणों में झुका उसके भक्त बन गये। इनमें शक, हूण आदि का नाम लिया जा सकता है।

मध्य युग

इसके बाद कुछ ऐसे लोग आए जिन पर भारतीय सभ्यता का प्रभाव तो पड़ा, पर वे इसमें मिल न सके । इसका कारण यह था कि

उनकी सभ्यता और धार्मिक विश्वास भी बड़े विस्तृत भू-भाग पर फैले हुए थे। इससे वे अपनी सभ्यता को ही बड़ा समझते रहे। साथ ही इन लोगों का उन देशों के साथ आना-जाना फिर भी बना ही रहा। जहाँ से वे आए थे, उनके उन आदि-देशों के धार्मिक महापुरुष यहाँ आते रहते थे। वे उनके हृदयों को बदलने नहीं देते थे। फिर भी बहुत कुछ प्रभाव पड़ा। रुपये में ६ आने। इन लोगों में मुसलमान भाई प्रधान हैं। इन लोगों में यह बात प्रायः सभी में रही कि वे भारतीय संस्कृति को ऊंचा मानते रहे। इसके चरणों में उनका सिर श्रद्धा से झुकता रहा। सम्राट् अकबर, दारा, जायसी[1], रहीम और रसखान आदि इस बात के प्रमाण हैं।

वर्तमान युग

इसके बाद यूरोप निवासी गोरी जाति के अंग्रेज आए। इनके आने पर हमारी सभ्यता की आलोचना विशेष रूप से शुरू हुई। इसकी चीर-फाड़ में इन लोगों ने ही सबसे पहले हाथ डाला। पहले-पहल तो इन्होंने यही समझा कि भारतवर्ष एक असभ्य देश है। इसका न तो कोई इतिहास है, न उन्नत सभ्यता और न ही कोई बढ़ा-चढ़ा साहित्य। वेदों को गडरियों के गीत समझा और स्मृतियों को संकुचित मस्तक के अनावश्यक बन्धन। पुराण उन्हें गप्प मालूम पड़ते थे। संस्कृत भाषा में विशेष श्रद्धा नहीं थी। पर धीरे-धीरे हालत बदली। यूरोप के लोगों ने अपने धर्म का प्रचार करने के लिए मिशनरी भेजे। वे लोग भारतवर्ष के विभिन्न भागों में काम करने लगे। उन्हें अपने धर्म का प्रचार करने के लिए भारतीय धर्म को छोटा बताना आवश्यक हुआ; तो वे लोग

---

[1] *जायसी, रहीम और रसखान हिंदी के प्रसिद्ध मुसलमान कवि हुए हैं। हिंदी के मुसलमान कवियों की कुल संख्या ४०० से भी कहीं बढ़ कर है।*

संस्कृत भाषा पढ़ने लगे, क्योंकि हमारे धार्मिक नियम तो संस्कृत भाषा में ही हैं। संस्कृत पढ़ते-पढ़ते उन लोगों को इसकी विशेषताओं, गुण, विस्तार और ऊंचेपन का ज्ञान हो गया। उन पर संस्कृत साहित्य का इतना अद्‌भुत प्रभाव पड़ा कि वे भारतवर्ष में ईसाइयत का प्रचार करना भूल गए; प्रत्युत अपने-अपने देशों में जाकर संस्कृत साहित्य का गुण गाने लगे। चौबे जी छब्बे बनने आए थे, हो गए दुब्बे। यूरोप के बड़े-बड़े विद्वानों का इस ओर ध्यान खिंचा। वे भी संस्कृत साहित्य को पढ़ने लगे। संस्कृत साहित्य और भारतीय सभ्यता मानो एक ही चीज हैं। संस्कृत साहित्य में भारतीय सभ्यता के वर्णन के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। संस्कृत साहित्य के आदि-ग्रन्थ वेदों को पढ़ने से यूरोप निवासी विद्वानों को यह विश्वास हो गया कि ये संसार भर में सबसे प्राचीन ग्रंथ हैं। परिस्थिति अब इतनी बदल गई कि पहले तो इसी जाति के कुछ नौसिखियों ने वेदों को गडरियों के गीत बताया था; अब उन्हीं के भाई इन्हें संसार के प्राचीनतम और सभ्य समाज के परिमार्जित ग्रंथ बताने लगे। जब वेद सबसे प्राचीन सिद्ध हो चुके, और वह भी विदेशी विद्वानों द्वारा, तो यह अनायास ही सिद्ध हो गया कि वह सभ्यता, जो वेदों में वर्णन की गई है, अर्थात् भारतीय सभ्यता संसार में सबसे पुरानी है। इससे संसार में विचारों की बड़ी क्रान्ति फैली। यूरोप ही नहीं, संसार के प्रायः सभी सभ्य महाद्वीपों के विद्वान् भारतीय साहित्य और सभ्यता के विश्लेषण में लग गये। कुछ विद्वानों ने इसे प्राचीन, तो कुछ ने अर्वाचीन सिद्ध किया। इस प्रश्न पर विद्वानों का बहुत दिनों तक संघर्ष-सा चलता रहा। अस्तु, बहुत से वाद-विवादों के बाद यह सब ओर से स्वीकार किया गया कि भारतीय सभ्यता और साहित्य बहुत पुराने हैं।

हमारी सभ्यता की जन्मभूमि

हमारा आदि-देश

इसके बाद एक नया प्रश्न पैदा हुआ—"क्या भारतीय सभ्यता की

जन्मभूमि भारतवर्ष है या कोई और देश ?" इस प्रश्न पर दूसरे प्रकार से विचार किया गया—"भारतीय सभ्यता उन लोगों की है जो यहीं पर आदि-काल से रहते आए हैं या कोई और लोग इसे विदेशों से लाए ?" सरलता की दृष्टि से इसे यों कहा जा सकता है कि भारतीय लोग अपने समाज को "आर्य" (श्रेष्ठ) नाम से पुकारते थे, तो वे आर्य लोग क्या बाहर से भारतवर्ष में आए या यहीं के आदिम निवासी थे ? आर्य या आर्य-सभ्यता, बात एक ही है। यहां पर यह बात ध्यान रखने की है कि इस प्रश्न के उठने से पहले बहुत-सी जातियां यहां पर आ चुकी थीं और उनमें से कुछ तो भारत में मौजूद भी थीं। बल्कि अंग्रेज भी उस समय नये-नये ही आए थे। इन सब आगमनों के कारण यह भावना ऐतिहासिकों के हृदयों में घर कर गई कि आर्य लोग भारत में बाहर से ही आए थे। इस भावना को एक और भी बल मिला। यूरोप के विद्वान् भारतीय सभ्यता के पूर्ण परिचय से पहले अपनी सभ्यता को बड़ा समझते थे, जैसा कि सभी लोग समझते हैं। उस सभ्यता का उद्गम-स्थान ही उनकी दृष्टि में उच्चतम देश था। यह कुछ मानने वाली भी बात थी; क्योंकि यूनान और मिश्र की सभ्यता की प्राचीनता एवं उच्चता जगत्-प्रसिद्ध थी। इसलिए एशिया, विशेषकर भारतवर्ष, के विद्वानों को भी यह सम्भव प्रतीत होने लगा कि आर्य लोग बाहर से आये होंगे और हमारी सभ्यता उन्हीं की लाई सम्पत्ति है। यूरोप वालों को इसलिये विश्वास हो गया कि यूनान व मिश्र की सभ्यता यूरोप की सभ्यता की जननी थी। यूरोप अपने को सभ्यतम महाद्वीप समझता था और भारतवर्ष की उच्चता में उन्हें विश्वास नहीं था। दूसरे, इस बात से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि यूरोप के लोग हर बात में अपनी महत्ता स्थापित करने में प्रयत्नशील रहते हैं; जातिगत ईर्ष्या उनमें पाई जाती है। उदारता के भावों का वहां नितान्त अभाव है। कुछ लोग तो इसका इतना तक भाव लगा लेते हैं कि यूरोप निवासियों के यह सिद्ध करने में कि भारतीय सभ्यता

और आर्य बाहर से आए, एक राजनीतिक चाल थी। पर यह बात विश्वसनीय नहीं मालूम पड़ती। हां, इसके मनोवैज्ञानिक कारण मानने में किसी को आपत्ति ही क्या हो सकती है! अस्तु, अब फिर भारतीय सभ्यता के विश्लेषण का नया अध्याय प्रारम्भ हुआ। जो भी साहित्य विद्वानों के पास उपलब्ध था उसका अध्ययन इसी दृष्टि से किया गया। जहां-जहां ऐसे प्रमाण मिले कि जिनसे यह सिद्ध किया जा सके कि आर्य लोग बाहर से आए थे, वे इकट्ठे किये गए। वास्तव में वे प्रमाण यह सिद्ध नहीं कर सकते थे कि आर्य लोग यहां बाहर से आए हैं। अब हम उन्हीं प्रमाणों पर विचार करने लगे हैं :—

भाषाओं की समता के आधार पर

आज से लगभग १२० वर्ष पहले की बात है। कलकत्ते में सर विलियम जोन्स को संस्कृत पढ़ते-पढ़ते ध्यान आया कि संस्कृत भाषा कई बातों में ग्रीक, लेटिन, जर्मन और केल्टिक भाषाओं से मिलती-जुलती है। इस तर्क पर उन्होंने विचार किया और विद्वानों में उसे फैलाया। उन्होंने तो केवल चार भाषाओं की समता पर ही विचार किया था, पर खोज करने से पता चला कि बीसों भाषाएं संस्कृत से मिलती हैं। भारत से पश्चिम की ओर पश्तो, बलूची, ईरानी (फारसी), ये तीनों भाषाएं जैंद भाषा से निकली हैं और जैंद भाषा संस्कृत से बिलकुल ही मिलती है। इसके आगे रूस और बल्गारिया की "स्लाव" भाषाएं, आधुनिक यूनानी, इटालियन, जर्मन, फ्रेंच, अंग्रेजी, डच, डेनिश, पुर्तगाली आदि भाषाएं भी संस्कृत से मिलती-जुलती सिद्ध हुईं; क्योंकि इन सभी भाषाओं की मातृ-भाषा ग्रीक या लैटिन है और ग्रीक तथा लैटिन का संस्कृत के साथ बहुत साम्य है। इसका भाव यह निकला कि प्राचीन भाषाओं में संस्कृत, ग्रीक, लैटिन, जैंद भाषाएं तथा आधुनिक भाषाओं में इन्हीं चारों से निकली बंगला, गुजराती, हिन्दी, मराठी, पश्तो, ईरानी, रूसी, जर्मन, फ्रेंच, अंग्रेजी, इटालियन, स्पेनिश, पुर्तगाली आदि

सभी भाषाएं आपस में मिलती हैं। इस भाषा के मेल से तरह-तरह के फल निकाले गए। भारत के कुछ विद्वानों ने यह अनुमान लगाया कि संस्कृत भाषा इन सभी भाषाओं की जननी है। पर वास्तव में यह सिद्धांत प्रमाणों से पुष्ट नहीं किया जा सकता। ग्रीक, लैटिन, जैक भाषाओं में ऐसे बहुत से चिह्न हैं जिन्हें संस्कृत से पहले का ही कहा जा सकता है। इसलिए यही मत स्थिर किया गया कि संस्कृत भाषा ग्रीक, लैटिन, जैक भाषाओं की बड़ी बहन है, जननी नहीं। इन सबकी जननी इनसे प्राचीन भाषा कोई अन्य होगी। इसलिए इन भाषाओं में आपस में साम्य है। इस समता का एक ही कारण समझ में आता था कि अति प्राचीन काल में कोई भाषा रही होगी, जो अब तो कहीं नहीं बोली जाती, पर उसी ने इन सब भाषाओं को जन्म दिया है। अब यदि उन समान शब्दों में से दो चार का उदाहरण यहां न दिया जावे तो बात अधूरी ही रह जावेगी, इसलिए उन शब्दों को लिखा जाता है जो भिन्न-भिन्न भाषाओं में समान हैं:—

संस्कृत	ईरानी	अंगरेजी
पितर्	पिदर	फादर
मातर्	मादर	मदर
भ्रातर्	बिरादर	ब्रदर
दुहितर्	दुख्तर	डाटर
भू	बम्	बाऊ

इस प्रकार आपस में मिलने वाले सैकड़ों शब्दों की सूची तैयार की जा सकती है। आम तौर से निकट सम्बन्धी, संख्या तथा आवश्यक वस्तुओं के वाचक शब्द इन सभी भाषाओं के एक-से हैं।

भिन्न-भिन्न मत

इस भाषा की एकता से लोगों ने यह अनुमान लगाया कि कोई ऐसा समय था जब कि इन भाषाओं के बोलने वालों के पूर्वज लोग एक स्थान

पर रहते थे। मैक्समूलर ने इसका बड़ा प्रचार किया। अब यह तय करना रह गया कि वह स्थान कौन-सा है। बहुतों की राय बनी कि यह स्थान मध्य एशिया था। कुछ लोगों ने पूर्वी रूस को निश्चित किया। कुछ फिनलैंड के पक्ष में रहे। मध्य यूरोप में वर्तमान बोहेमिया की तरफ भी कुछ एक विद्वानों का ध्यान झुका। बाल गंगाधर तिलक की राय थी कि यह स्थान उत्तरी ध्रुव के पास था। पार्जीटर का इन सबसे विलक्षण विचार यह था कि आर्य लोग हिमालय में स्थित इला नामक स्थान से यहां आकर भारत से पश्चिम की ओर गये।

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, इस विचार-धारा का कि आर्य लोग बाहर से भारत में आये, एक पहली बद्ध धारणा कारण है। इन लोगों ने सिकन्दर, हूण, शक, मुसलमान, अंगरेज आदि के आगमन देखे सुने थे। इससे यह विश्वास हो गया कि यहां बाहर से आए लोग ही रहते हैं। सिकन्दर आदि के आने से यह सिद्ध नहीं हो सकता कि हम लोग भी बाहर से आए हैं। नदी में डूबकर मरने वाले आदमी को यह निश्चय कर लेना कि संसार के सभी मनुष्य डूबकर मरते हैं, ठीक नहीं। देशों की परिस्थितियां बदलती रहती हैं।

यदि हम लोग बाहर से आते तो हमारे वेदों में उस आदि-देश का भी वर्णन मिलता। उसकी कोई याद ऋषियों को होती। वहां की जल-वायु की वे भिन्नता का अनुभव करते। हमारे वेदों में यहां की नदियों, यहीं के पहाड़ों, खेतों, अन्न, पशु-पक्षी आदि का वर्णन है। कृषि-प्रधान सभ्यता वेदों में पाई जाती है। जिस प्रकार के देवताओं व यज्ञ का विधान वेदों में है वह ज्यों-का-त्यों भारत में पाया जाता है। वेदों के बाद बना भारतीय साहित्य वेदों से ओत-प्रोत है। वेद सर्वमान्य हैं। आज भी हम लोगों के दैनिक आचार में वैदिक सभ्यता छिपी पड़ी है। कुछ शब्दों के मिलने-मात्र से यह सिद्ध कर लेना कि भारतीय बाहर से आए थे, उचित नहीं। सैकड़ों इङ्गलिश के शब्द, जैसे टिकिट, स्टेशन, कार्ड, टेली-फोन, जज, आफिस आदि हमारी रग-रग में प्रविष्ट हो चुके हैं। तो क्या

भावी विद्वानों को यह तय कर देना चाहिए कि भारतीय इङ्गलैण्ड आये थे ? वास्तव में, वेदों में कौन-सी सभ्यता है, इस बात का पता सब अच्छा उन ग्रन्थों से लग सकता है जो वेदों के थोड़े समय बाद लिखे गए हैं—जैसे ब्राह्मण ग्रन्थ। उनमें जो है, वह हमारी सभ्यता है। वह जहाँ मिले, वही हमारी सभ्यता का देश है। ब्राह्मणों में बताये गये याग और यज्ञ आज भी भारत के अग्निहोत्री करते हैं—फिर हमारी सभ्यता बाहर से कैसे आई ?

पर इस बात को सत्य माना जावे तो यूरोपीय देशों में पाये गए भारतीय शब्दों का क्या कारण होगा ? क्या भारतीय लोग बाहर गए ? भगवान् बुद्ध के बाद तो सैकड़ों भारतीय धर्म के प्रचार के लिए अन्य देशों में गए। शायद बौद्धों का इस प्रकार बाहर जाना भारतीयों की पूर्व प्रथा का ही अनुसरण हो। मनुजी का वह श्लोक कि आर्यावर्त में उत्पन्न हुए ब्राह्मण से संसार के समस्त मनुष्य आ-आकर सभ्यता सीखें, शायद प्राचीन अभ्यास ही की याद दिलाता हो। धार्मिक दृष्टि ही नहीं, व्यापारिक दृष्टि से भी भारतनिवासियों का बाहर जाना अधिक पाया जाता है। भारत के पश्चिमी समुद्र-तट पर ऐसे सिक्के मिलते हैं जो यूनान के हैं। पर वे हैं सिकन्दर के आक्रमण से कुछ समय पूर्व के ही। वैदिक साहित्य में ऐसी नावों के नाम आते हैं जिनमें हजार मनुष्य बैठकर जा सकते थे (सहस्रित्र)। ऐसी नौकाओं का बनना इस बात पर प्रकाश डालता है कि वैदिक काल के भारतीय बाहर व्यापार करने जाते होंगे। वेदों का पणि-समूह, जिसका शब्दार्थ ही व्यापार करने वाला समुदाय है 'वैश्यस्तु व्यवहर्ता विट् वार्तिकः पणिको वणिक्', इसकी पुष्टि करता है। इस जाति का लक्ष्य जिस किसी प्रकार से धन इकट्ठा करना था, इसलिए देव-पूजक भारतीयों की दृष्टि में यह गिरे हुए समझे जाते थे। उनके देव-पूजक भारतीयों के साथ लड़ाई-झगड़े भी होते रहते थे।

दूसरा इसी प्रकार का नाम दस्यु है। कुछ लोग इन्हें यहाँ के

आदिम निवासी मानते हैं। पर इस विषय में एक बात ध्यान देने की है कि ये लोग आर्यों से इतने मिलते-जुलते थे कि उन्हें भीड़ या लड़ाई आदि में पहचानना भी कठिन होता था। एक वेद-मन्त्र में लिखा है कि "लो, यह मैं दास और आर्य को चुनता हुआ आ रहा हूँ।" दास दस्यु का ही पर्यायवाची है। ऋ० वे० १०।४६ में अपनी प्रशंसा करते हुए कहा है कि मैं वह हूँ जिसने दस्यु को आर्य नाम नहीं दिया। यानी कुछ लोग इन्हें आर्य भी कहते थे और वे आर्यों से मिलते-जुलते थे। दास शब्द तो शूद्रों के नाम के सामने अब भी लगाया जाता है। धर्मशास्त्रों में इसका नियम है; और शूद्र जाति को वेदों में भारतीय जाति का एक अंग माना है। एक ही पुरुष से चारों वर्णों की उत्पत्ति मानी गई है। वास्तव में भारतीय लोग यज्ञ, देवपूजा आदि अधिक करते थे। वे आध्यात्मिक प्रकृति के थे और थे इतने कट्टर कि जो देवताओं को नहीं मानते थे उन्हें अपने भाई होते हुए भी शत्रुवत् समझते थे। उनकी आपस में लड़ाई होती थी। यही देवासुर-संग्राम है। इसीलिए असुर शब्द का वेद में भी देवता अर्थ है। यानी पहले सब भारतीय असुर ही थे (असुर का शब्दार्थ बलवान् होता है)। आर्य वे थे जो देवताओं को बलियां देते थे, उन्हें सोम पिलाते थे। जो ऐसे नहीं थे वे बाद में असुर बन गए। दस्यु और दास शब्द का अर्थ दूसरों को क्षीण करने वाला है। अर्थात् पणि और दस्यु लोग रुपया पैसा कमाना अपना धर्म समझते थे। व्यापारादि के द्वारा आर्यों का धन चूसते थे। यूरोप में जो स्थान यहूदियों का है और भारतवर्ष में मारवाड़ी जैसे समझे जाते हैं, उसी प्रकार का स्थान दास या पणियों का आर्यों में था। धार्मिक विश्वासों में भेद आने से आपस में लड़ाई-झगड़े हुए, आर्यों को विजय मिली और दस्यु या पणि लोग बाहर भाग गये। पहले ये लोग भारत की सीमा पर कुछ दिन रहे। फिर आगे ईरान, ईराक की ओर बढ़ते चले गए। ईरान में उन्होंने अपना अड्डा जमाया और यूरोप में व्यापार करते-करते फैलते गये। ईरान से यूरोप में आना-जाना आसान था। इधर ईरान में रहने वालों का सम्बन्ध भारतीयों से भी बना रहा।

इसीलिए ईरानियों की पर्शियन सभ्यता भारतीय सभ्यता से बिलकुल अभिन्न है। इनका जैन्द-अवस्ता हमारे वेद का ही एक भाग समझना चाहिए। भारत से बाहर जाने वाले आर्यों का जो साहित्य, धार्मिक विचार व प्रथाएं थीं—वही उसमें हैं। हाँ, यह भेद तो है जो पणि, दस्यु आदि का यहां पर था। इसीलिए आर्यों के देवता जैन्द-अवस्ता में निन्द्य हैं। असलियत यह है कि ईरानी तथा भारतीय पहले यहीं थे। सब देवताओं को असुर कहते थे। यहाँ मतभेद होने से कुछ लोग वहां चले गये, कुछ यहीं पर रह गए। भिन्न विश्वास वाले भी रह गए थे, पर उन्होंने अपना विश्वास बदल डाला था। हमारा असुर-मेध ईरान में "अहूर मज्दा" हो गया, मित्र मिथ्र बन गया और सोम की पूजा होम के रूप में हुई। नासत्या नाहत्या बन गए, सप्ताह हफ्ताह बन गया और सिंधु होगया हिंदू, जो आज भ्रम के कारण कभी गुलाम का वाचक समझा जाता और कभी काफिर का। ईरान में बसने के बाद भारतीयों को सिन्धु पार वासी कहा गया होगा। सारांश यह हुआ कि भारत में पहले सभी आर्य परमात्मा को अग्नि, वरुण, यम, मित्र आदि के नाम से पूजते थे। ये देवता प्रकृति की अग्नि, जल, सूर्य आदि वस्तुओं की ही अधिष्ठात्री परमात्मा की दैवी शक्तियां हैं। इसके कुछ दिन बाद इन्द्र-शक्ति की पूजा प्रारम्भ हुई। यह शक्ति बादल लाती है, उन्हें बरसाऊ बनाती है। उस शक्ति का है जो वर्षा को रोके (वृत्र या अवग्रह)। चूंकि इन्द्र-शक्ति प्रत्यक्ष नहीं थी, बादल ही वर्षा के कारण समझे जाते थे। अतः कुछ लोगों का इस पर विश्वास नहीं जमा। वे 'अनिन्द्राः' बन गए। यह विश्वास-भेद बढ़ता गया। आपस में लड़ाई हुई और घोर लड़ाई हुई। एक ही जननी के पुत्र लड़ पड़े। हारकर बहुत से ईरान आदि में जा बसे, बहुत-सों ने यहीं रहकर अपने दूसरे भाइयों की हां-में-हां मिला दी। उधर ईरानवासी आर्यों को अपना आर्यबीजस्थान (एरियनबेइजो) याद आता रहा; वे समय-समय पर यहां आते-जाते रहे। जरथुस्त्र (ईरानियों का देवता) इस प्रकार विलाप भी करते हैं कि "मैं किस देश को जाऊं।

कहां शरण लूं। कौन-सा देश मुझको और मेरे साथियों को शरण दे रहा है।" फिर ईरानवासियों को ईरान से भी बाहर जाना पड़ा, क्योंकि अग्रेमैन्यु (देवता) की कृपा से वहाँ जाड़ा बहुत बढ़ गया था।[१]

इसलिए कुछ ईरानी लोग पश्चिम दिशा में बढ़ते चले गए। वहां पर व्यापार आदि वे पहले भी करते थे। चूंकि ये लोग यूरोप के निवासियों की अपेक्षा अधिक सभ्य थे इसलिए इनका उन पर प्रभाव पड़ा। इनकी भाषा, विचार, पूजा-पद्धति वहां अपनाई गई। यही कारण है कि भारत तथा यूरोप के कुछ शब्द तथा रीति-रिवाज मिलते हैं। वास्तव में आर्य भारतीय ही हैं, और नहीं; और हमारी सभ्यता का उद्भव तथा हमारा उद्भव यहीं पर हुआ है। बाहर कहीं नहीं। यह कलंक हम पर थोपा गया है कि हम बाहर से आए हैं। इससे हमारी राष्ट्रीयता को ठेस पहुँचती है। इस कलंक को मिटाने के लिए बहुत से प्रयत्न हो रहे हैं; पर वे पर्याप्त नहीं हैं। अधिक होने चाहिएं।

---

[१] *चूंकि ये लोग भारत जैसे गर्म देश से गये थे इसलिए जाड़ा इन्हें विपरीत प्रतीत होता है। ध्यान देने की बात है कि इस प्रकार हमारे वेदों में ऋतु की विपरीतता नहीं मिलती। यदि आर्य बाहर से आते तो अवश्य मिलती।*

दूसरा भाग

भारतीय सभ्यता का बाहर प्रचार

भारतवर्ष की सभ्यता पर विदेशों का प्रभाव नहीं के बराबर है। इससे उलटा इस देश का प्रभाव बाहर रहा है। इसका कारण यही है कि आरम्भ से ही हमारी सभ्यता औरों की अपेक्षा अधिक उन्नत रही है। हिंदुस्तान का जल और स्थल के रास्तों से विदेशों के साथ व्यापार पुराने समय में ही शुरू हो गया था। वेदों में सहस्रों आदमी ले जाने वाली नावों का वर्णन मिलता है। ईसा से नौ सौ वर्ष पूर्व ईराक, अरब, फिनिशिया और मिश्र से बराबर व्यापार होता था। धीरे-धीरे यह व्यापार और भी बढ़ा। ऐसे बहुत से शब्द इन दूर देशों में मिलते हैं जो भारत के उन शब्दों के अपभ्रंश हैं जिनका यहां ९वीं ई० सदी में व्यवहार होता था। पश्चिम में हिन्दुस्तानी मल्लाह जर्मनी और इंग्लिस्तान के बीच उत्तर समुद्र तक पहुँचे। पहली ईस्वी सदी में अफ्रीका के किनारे एक टापू में हिन्दुओं ने अपना उपनिवेश बनाया था। पश्चिमी देशों में हिन्दुस्तान से मसाले, गन्धक, सूती कपड़े, रेशम, मलमल, हाथी-दांत, कछुए की पीठ, मिट्टी के बर्तन, मोती, हीरा, जवाहर, चमड़ा, दवा आदि जाते थे। उन देशों से यहां कपड़ा, दवा, सोना, चांदी, तांबा, टीन, सीसा और शीशे के बर्तन आते थे। पहली ईसवी सदी के रोमन लेखक प्लिनी ने लिखा है कि इस व्यापार से भारत को बड़ा लाभ था और रोमन साम्राज्य की बहुत-सी सम्पत्ति हर साल भारत चली जाती थी। इस

समय के ग्रीक और रोमन लेखकों से साफ पता चलता है कि भारत के समुद्र-तट पर अच्छे-अच्छे बन्दरगाह थे। उनमें बहुत-से जहाज आते जाते थे। तामिल साहित्य से पता चलता है कि चोल प्रदेश में कावेरी-पत्तनम्, तोंडी और पुहार, समुद्री व्यापार के बड़े-बड़े केन्द्र थे।

दूसरी ओर पूरब के देशों से भी व्यापार होता था। बंगाल की खाड़ी के बन्दरगाहों से जहाज पूर्वीय द्वीप-समूह और चीन आया-जाया करते थे। पांचवीं सदी में चीनी यात्री फाहियान हिन्दुस्तानी जहाज में ही बैठकर चीन से आया था और फिर हिन्दुस्तानी जहाज से ही घर लौटा था। हाल में पूर्वी बोर्नियो में चार यूप-लेख मिले हैं, जिन में ब्राह्मण प्रवासियों के यज्ञ और दान का उल्लेख है। इसी तरह जावा के बीच में पहाड़ों पर हिन्दू लेख मिले हैं।

व्यापार के कारण हिन्दुओं को उपनिवेश बनाने का भी प्रोत्साहन हुआ। उन्होंने बाहर बहुत-सी बस्तियां कायम कीं। ईसा के पूर्व तीसरी सदी के लगभग लंका के टापू में, बर्मा में और उसके भी पूर्व स्याम में हिंदुओं ने अपने उपनिवेश बसाए। पहली और दूसरी ईसवी सदी के लगभग कम्बोडिया में, दक्षिण अनाम में, जिसका नाम चम्पा रखा गया, दक्षिण पूर्व में जावा, सुमात्रा, बाली और बोर्नियो के द्वीपों में और मलाया प्रायद्वीप में हिन्दू उपनिवेश बसाये गए।

इन सब देशों में हिंदुओं की सभ्यता फैल गई। संस्कृत साहित्य का प्रचार हुआ। हिंदू सिद्धान्तों के अनुसार चित्रकारी, मूर्ति-निर्माण और भवन-निर्माण हुआ। हिन्दू धर्म के सिद्धान्त वहां भी माने गए। कहीं-कहीं समाज का संगठन हिन्दू-वर्ण-व्यवस्था के अनुसार हुआ। कुछ सदियों के बाद, हिन्दुस्तान से सम्बन्ध कम हो जाने से, हिंदू धर्म की कट्टरता से तथा दूसरी जातियों और धर्मों के बढ़ जाने से हिन्दू प्रधानता मिट गई; पर हिन्दू सभ्यता के आश्चर्यकारी चिह्न अब तक मौजूद हैं। स्याम इत्यादि में राज्याभिषेक अब तक हिन्दू रस्मों के अनुसार होता है। ब्राह्मण-ग्रन्थों के मन्त्र उच्चारण किए जाते हैं।

ब्राह्मण अभिषेक करते हैं। वैदिक रीतियों के अनुसार राजा आसपास के लोगों को सम्बोधन करता है। बाली द्वीप में महाभारत, शुक्रनीति आदि अनेक संस्कृत ग्रंथ मिले हैं। जावा में अब तक ६०० हिन्दू इमारतों के अवशेष मौजूद हैं। यहां का बरबोदूर मन्दिर तो निर्माण-कला के सर्वोत्तम उदाहरणों में से है। बरबोदूर का प्रधान मन्दिर संसार के सबसे सुन्दर भवनों में गिना जाता है। इसकी कुर्सी ४०० फीट से ज्यादा ऊंची है और इसमें सात ऊंचे-ऊंचे खन हैं। निर्माण की शैली सुन्दर है। चारों ओर पत्थर की बहुत-सी मूर्तियां नक्काशी की हैं, जो यदि एक कतार में रखी जावें तो तीन मील तक फैल जावें। मूर्तियां इसी तरह की हैं जैसी यहां पर अजन्ता आदि स्थानों में हैं। मूर्तियों के द्वारा बौद्ध और ब्राह्मण ग्रन्थों की कथाएं बयान की गई हैं और इस खूबी से बयान की गई हैं कि सदा के लिए चित्त पर अंकित हो जाती हैं। सब जगह कारीगरी वही है जो एलोरा, नासिक, अजन्ता इत्यादि में दिखाई देती है।

कम्बोडिया में "अंगकोरवाट" का मन्दिर हिन्दू-कला का एक दूसरा चमत्कार है। यह लगभग एक मील लम्बा और लगभग एक मील चौड़ा है और क्षेत्रफल में भी एक वर्गमील है। एक खण्ड के बाद दूसरा खण्ड है, जो पहले खण्ड से कुछ ऊंचा है, और इसी तरह खण्ड-पर-खण्ड चलते गये हैं। सीढ़ियों के बाद सीढ़ियां, स्तम्भ-समूह के बाद स्तम्भ-समूह लांघते हुए दर्शक चारों ओर शैली के चातुर्य की और मूर्ति-कला की निपुणता की प्रशंसा करता हुआ घंटों तक घूमा करता है। इन सब उपनिवेशों में बहुत-से नगरों तथा प्रान्तों के नाम भारतवर्ष से लिये गए थे। दूर देशों में चम्पा और कलिंग थे। द्वारावती और कम्बोज थे। अमरावती और अयोध्या थे। इन देशों के जंगलों में अब भी नई-नई हिन्दू इमारतें और मूर्तियां निकल रही हैं। इनकी सभ्यता पर अब भी हिन्दू-प्रभाव सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है।

तीसरा भाग

भारतीय सभ्यता का परीक्षण

प्रकृति-विजय

भारतीय सभ्यता के स्वरूप को दिखाने से पहले हम यह आवश्यक समझते हैं कि सभ्यता किसको कहते हैं, इसका साधारणतया निर्णय कर लें। वैसे तो यह प्रश्न इतना जटिल है कि किसी भी सिद्धान्त के, जो इस पर स्थिर किया जावे, पक्ष और विपक्ष में बहुत कुछ कहा जा सकता है। इस तरह इस प्रश्न का दो टूक उत्तर कठिन हो जाता है कि सभ्यता किसे कहते हैं। हम उन प्राणियों को भी देखते हैं जो सब विचारकों के लिए असभ्य हैं और उन्हें भी देखते हैं जो सबकी दृष्टि में सभ्य समझे जाते हैं। इनके देखने से पता चलता है कि असभ्य और सभ्य प्राणी में एक बड़ा भारी अन्तर होता है। असभ्य पर प्रकृति (Nature) की विजय रहती है और सभ्य इससे उल्टा प्रकृति पर अपनी विजय स्थापित कर लेता है। उदाहरण के लिए पशु-पक्षी, वन-मानुष आदि सभी प्रकृति के आधीन होते हैं। वे जाड़ा पड़ने पर बेर की तरह कांपने लगते हैं और गर्मी पड़ने पर रीछ की भांति हांफना शुरू कर देते हैं। बरसात में वे भीग जाते हैं। नदियों में बाढ़ आ जावे तो बह जाते हैं। आँधी आवे तो एक स्थान से दूसरे स्थान को भटक जाते हैं। इनसे बचने का उनके पास कोई उपाय नहीं। जैसे-जैसे ज्ञान बढ़ता जाता है वैसे-वैसे ही प्रकृति पर विजय बढ़ती जाती है। जब तक ज्ञान नहीं

होता तब तक प्राणी नदी से सिर्फ इतना ही लाभ उठा सकता है कि प्यास लगने पर उसमें से पानी पी ले। ज्ञान बढ़ने पर उससे नहरें निकाल कर भूमि को उर्वर बनाया जाता है। नाव बनाना और चलाना सीख जाने पर व्यापार किया जाता है। बाद में नदी के किनारे पर पनचक्की भी लगाई जा सकती है। नदी के किनारे पर अच्छे नगर बसा सकते हैं। इसे हम प्राणी की नदी पर विजय कहेंगे। इससे आगे यदि नदी में बाढ़ आजाती है और मनुष्य के बसाये गांव या खेतों को नुकसान होता है तो समझो अभी मनुष्य को नदी पर पूर्ण विजय नहीं हुई। यदि वही मानव अधिक ज्ञान प्राप्त करेगा तो नदी के किनारों को अभेद्य बना डालेगा या अपने तथा गांवों की रक्षा का कोई ऐसा उपाय ढूंढेगा कि वह नदी के प्रभाव से ऊपर हो। इस सबका सारांश यह हुआ कि मनुष्य ज्यों-ज्यों सभ्य होता जावेगा त्यों-त्यों अपने ज्ञान के बल से प्रकृति पर विजय प्राप्त करता जावेगा। इसलिए प्रकृति पर विजय सभ्यता की पहली कसौटी है।

तत्त्व-चिन्तन

प्रकृति मनुष्य पर अपना प्रभाव डालकर उसे कष्ट पहुंचाती है। इसलिए अपने ज्ञान के बल से सबसे पूर्व प्रकृति पर ही विजय प्राप्त किया जाता है। इसके बाद जीवन में कुछ ऐसी घटनाएं आती हैं जिनसे संसार के परे की बातें जानने की भूख पैदा हो जाती है। अपने नियमित समय पर ऋतुओं का नियमित परिवर्तन, सूक्ष्मतम बीजों से विशालतम वृक्षों की उत्पत्ति, मनुष्य का अपना जन्म, मरण तथा इसी प्रकार की अन्य आश्चर्यजनक घटनाओं से मनुष्य सोचने लगता है कि क्या इन सब कामों का करने वाला, इनका नियन्ता कोई और भी है? यदि वह है तो क्या उसका मनुष्य से भी कोई सम्बन्ध है? यदि मनुष्य का उससे सम्बन्ध है तो फिर उसे प्राप्त करना चाहिए। फिर उसकी प्राप्ति के क्या उपाय हो सकते हैं? इत्यादि प्रश्न मनुष्य के मस्तक में चक्कर काटने

लगते हैं।

जिस तरह जाड़ा, गर्मी, बरसात से शरीर में अशान्ति फैलती है, उसी तरह इन विचारों से भी मनुष्य को आन्तरिक अशान्ति घेर लेती है। यह एक अनोखी मस्तिष्क की भूख है। यद्यपि इन प्रश्नों के उत्तर से हमें कोई भौतिक सुख नहीं मिलता, तब भी आन्तरिक शान्ति अवश्य मिलती है। हां, तो इस प्रकार के प्रश्न और उनके उत्तर तत्व-ज्ञान या अध्यात्म-विद्या कही जाती है और यह तत्व-चिन्तन सभ्यता की उन्नति के मार्ग की दूसरी मंजिल है। जिस जाति ने जितना ऊंचा अध्यात्म-ज्ञान प्राप्त किया हो, वह जाति उतनी ही अधिक सभ्य मानी जाती है। फलतः प्राकृतिक ज्ञान की तरह आध्यात्मिक अनुसन्धान, या यों कहिए कि तत्व-ज्ञान, भी सभ्यता की दूसरी कसौटी है।

आत्म-संयम

अब तक हमने, मनुष्य के आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक ज्ञान का मानव-जीवन में क्या स्थान है, यह देखा। पर विचार करने से पता लगेगा कि हमारा आधिभौतिक ज्ञान या यों कहिए कि प्रकृति पर हासिल की हुई विजय संहारक भी हो सकती है। कभी-कभी जातियों का ज्ञान इतना बढ़ जाता है कि वह समाज के लिए आतंक हो जाता है। द्वितीय महायुद्ध में हमने देखा कि यूरोप के ज्ञान-बल की आधिभौतिक सीमा परमाणु-बम है। मनुष्य के मस्तिष्क की यह उपज मानवता के लिए अभिशाप बन गई है और उसका आविष्कर्ता भी मानवता से शून्य शैतान समझा जाता है। इसी प्रकार वे अस्त्र-शस्त्र हैं जिनके बल पर जर्मनी, अमेरिका, इंगलैण्ड ने यह युद्ध लड़ा। वे सब आविष्कार ज्ञान की दृष्टि से तो मनुष्य को ऊंचा उठाते हैं, पर वह ज्ञान हमारा भला न करके बुरा ही कर रहा है। इसलिए यह सभ्यता की गिरावट ही समझी जावेगी। असल बात यह है कि ज्ञान स्वतः तो बड़ा पवित्र है, पर उसका उपयोग दूषित होने से वह भी दूषित हो जाता है। इसलिए ज्ञान की

वृद्धि के साथ-साथ उसके उपयोग के सन्मार्ग भी बढ़ने चाहिएं । यदि यह ज्ञान असामाजिक पाशविक वृत्तियों के हाथ में पड़ जाता है तो संसार में हाहाकार मच जाता है। इससे प्रकट होता है कि सभ्यता की पूर्णता के लिए बाहरी प्रकृति को जीतना ही पर्याप्त नहीं है। मनुष्य को अपनी भीतरी प्रकृति को भी जीतना चाहिए। मानवी प्रकृति में कई प्रवृत्तियां हैं जिनका नियमन व्यक्ति के जीवन की शान्ति और सुख के लिए नितान्त आवश्यक है। इसी से समाज का सामन्जस्य स्थिर होता है। क्रोध, मान, लोभ, ईर्ष्या और निष्ठुरता से व्यक्ति अपना और दूसरों का जीवन क्लेशमय बना सकता है। इनको जीतना अथवा इनके वेगों को सामाजिक संवृद्धि के मार्गों में परिणत कर देना आवश्यक है। यदि ये प्रवृत्तियां उच्छृंखल हो जावें और मानव-जीवन को आक्रान्त कर बैठें तो मानव दानव हो जाता है और उसका जीवन युद्ध का केन्द्र बन जाता है। इसके विपरीत यदि अहिंसा, प्रेम और सहानुभूति की प्रधानता हो तो पृथ्वी पर ही स्वर्ग बन जाता है। 'इहैव तैर्जितः स्वर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः', 'यस्मान्नोद्विजते लोकः' इत्यादि गीता के वचन हैं। इस प्रकार कुप्रवृत्ति तथा सुप्रवृत्ति दोनों ही हमारे जीवन में हमेशा रहती हैं। किसी एक का सर्वथा लोप तो होता नहीं। राक्षसों में भी दया रहती है और देवताओं ने भी अत्याचार किये हैं। फिर प्रश्न उठता है कि सभ्यता क्या है ?

उत्तर में कहा जा सकता है कि स्नेह, सहानुभूति आदि सामाजिक प्रवृत्तियों की प्रधानता सभ्यता है और इससे विपरीत असामाजिक प्रवृत्तियों की प्रधानता बर्बरता। इसलिए किस समाज में किन प्रवृत्तियों की प्रधानता है—यह भी एक सभ्यता की तीसरी कसौटी है।

समाज-सेवा

इससे आगे बड़ी समस्या समाज-सेवा की है। हम देखते हैं कि व्यक्ति के अपने कार्य ही इतने बड़े हो जाते हैं कि वह अकेला उन्हें पूर्ण नहीं कर सकता। समाज के कार्य तो फिर इससे बहुत बड़े होते हैं—वे

किसी एक या दो व्यक्तियों द्वारा नहीं किये जा सकते। प्रत्युत उनकी पूर्ति के लिए बहुत से समाज-सेवियों की सेवाएं आवश्यक होती हैं। गांव में किसी किसान को झोंपड़ी का छप्पर डालना हो तो सारा गांव एकत्रित होकर ही उसे उठावेगा, एक व्यक्ति नहीं उठा सकता। इसी प्रकार समाज की बहुत-सी समस्यायें होती हैं। उसके लिए समाज को सदा उद्यत रहना चाहिए। यह तभी सम्भव होगा जब व्यक्ति में सामाजिक चेतना होगी। इसलिए कह सकते हैं कि सामाजिक चेतना से प्रेरित हो कर समाज की सेवा करना सभ्यता की चौथी कसौटी है।

सामञ्जस्य

संसार में बहुत से व्यक्ति हैं जो धनी भी हैं, विद्वान् भी हैं, चरित्रवान् भी हैं और समाज-सेवी भी हैं; किन्तु फिर भी उन्हें सुख नहीं मिलता, शांति नहीं प्राप्त होती। हृदय के अन्दर एक बड़ा अन्तर्द्वन्द्व चलता रहता है। वे अशांति के शिकार रहते हैं। इसी तरह बहुत से समाज भी हैं जिनमें धन, सुख, चरित्र, समाज-सेवा सब कुछ है, पर आन्तरिक शांति नहीं। इसका कारण यह होता है कि वे व्यक्ति या समाज अपने-अपने अन्दर सामञ्जस्य स्थापित नहीं कर पाते। किसी शारीरिक या मानसिक शक्ति की अत्यधिक प्रबलता हो जावे और अन्य शक्तियां अविकसित पड़ी रहें तो जीवन अधूरा रह जावेगा और सुख तथा शांति दूर भाग जावेंगे। व्यक्तित्व की पूर्णता इसमें है कि सब शक्तियों तथा वृत्तियों का यथोचित विकास और प्रसार हो। उनमें आपस में विरोध न हो, बल्कि बुद्धि के द्वारा सबका संगठन तथा सामञ्जस्य कर दिया जावे। जिस प्रकार व्यक्तित्व के विकास के लिए हमें सभी शक्तियों तथा वृत्तियों के विकास की आवश्यकता पड़ती है, उसी प्रकार समाज के विकास के लिए भी उसमें भिन्न-भिन्न शक्तियों के विकास तथा सामञ्जस्य की आवश्यकता पड़ती है। अतः व्यक्तिगत तथा सामाजिक सामञ्जस्य भी उन्नति का साधक है। हम इसे भी सभ्यता की पांचवीं कसौटी

समझते हैं।

इस प्रकार सभ्यता की परीक्षा के लिए पांच कसौटियां स्थिर की जा सकती हैं:—

(१) ज्ञान के द्वारा प्रकृति पर विजय।

(२) तत्त्व-ज्ञान के द्वारा विश्व, आत्मा तथा परमात्मा एवं जीवन-मरण आदि पहेलियों को सुलझाना।

(३) मानवीय चित्त-वृत्तियों का संयम।

(४) सामाजिक हित एवं सेवा का व्यापक भाव।

(५) व्यक्तिगत और सामाजिक सामञ्जस्य।

हमारी सभ्यता में प्रकृति-विजय

पीछे हमने देखा कि सभ्यता को किन बातों से मापा जाता है। अब यह देखना चाहिए कि इन माप-दण्डों से हमारी सभ्यता का स्थान संसार में कौन-सा है। सबसे पूर्व हम प्रकृति-विजय को लेते हैं। हम पूर्व कह चुके हैं कि ऋग्वेद के समय में भी भारतीय ऐसी नौकाओं का प्रयोग करते थे, जिनमें हज़ार-हज़ार मनुष्य सवार हो सकते हों। इसके अलावा अनेकों चिह्न अब तक ऐसे शेष हैं जिनसे पता लगता है कि इस देश में आर्यों ने और प्रदेशों से कहीं अधिक उन्नति की थी। अशोक के समय के शिला-लेखों से साफ़ मालूम पड़ता है कि उसने अपने साम्राज्य भर में स्थान-स्थान पर सड़कें, कुंए, बावड़ियां और बगीचे बनवाए थे। देश-देशान्तरों से मंगाकर उत्तम-उत्तम औषधियों के बगीचे लगवाए थे। महाराजा राम-चन्द्रजी द्वारा बांधा गया पुल भी इसी ओर संकेत करता है। आकाश के नक्षत्रों की गति, उनका मानव-जीवन पर प्रभाव, गणित-विद्या, भूमिति-शास्त्र आदि पर हमारे पूर्वजों के सिद्धांत आज तक संसार भर में अपनी बराबरी नहीं रखते। उन्होंने ऐसी दवाओं का पता लगाया जो आज भी उपयोगी ही नहीं, बल्कि आश्चर्यकारक हैं। सांख्य वालों के सत्त्व, रजस्, तमस् और आयुर्वेद शास्त्र के वात, पित्त, कफ का आविष्कार क्या आश्चर्य-

जनक नहीं है ? चरक का शल्य-शास्त्र, स्थापत्य-कला, पत्थरों से मूर्ति-निर्माण-कला आदि तो चरम सीमा तक पहुँचाये गए हैं। वेद और ब्राह्मणों के समय से ही भारतीय इस बात को पहचानते थे कि वर्षा किस प्रकार की जा सकती है—'आदित्याज्जायते वृष्टिः' इत्यादि। नहर और तालाब का बांध बनाने में वे किसी से भी कम नहीं थे। मनोविज्ञान के भारत के सिद्धांत आज भी बहुत मार्के के हैं। राजनीति की विवेचना भी ऊंचे दर्जे की है। महाभारत के शांतिपर्व तथा कौटिल्य की कूटनीति को संसार आज भी पढ़ सकता है। वह वहां तक पहुंचा ही नहीं। योग-शास्त्र का मानसिक प्रवृत्तियों का चमत्कारी विश्लेषण एकदम अभूतपूर्व वस्तु है। यह सच है कि गत दो सौ वर्षों से यूरोप ने वैज्ञानिक आविष्कारों की धूम मचा दी है और दिन दूनी रात चौगुनी ऐसी उन्नति की है कि संसार की आँखें चकाचौंध हो जाती हैं, पर सत्रहवीं शताब्दी तक यूरोप का प्राकृतिक विज्ञान भारतीय विज्ञान से किसी भी रूप में आगे नहीं था, बल्कि पीछे ही था। जिस समय यूरोप ने इस दिशा में उन्नति की थी उस समय तो भारतवर्ष दूसरी जातियों की एड़ियों से कुचला जा रहा था, उसे अपने प्राणों के लाले पड़े थे। वह जीवन और मृत्यु के बीच में साँसें ले रहा था। उन संकटों से अपने सत्व की रक्षा कर ली, यह भी इसके लिए बहुत है।

हमारी सभ्यता में तत्व-ज्ञान

इसके बाद दूसरी कसौटी तत्व-ज्ञान या अध्यात्म-विद्या की आती है। इसके विषय में तो अधिक कहना प्रत्यक्ष में प्रमाण देने के ही बराबर होगा। इस विषय में तो आज ही नहीं, सैकड़ों वर्ष पहले भी भारतवर्ष संसार का गुरु बनने का दावा करता था। वेदान्त दर्शन का अद्वैतवाद न केवल अध्यात्म-विद्या की दृष्टि से अपितु भौतिक विज्ञान की दृष्टि से भी अभी तक संसार के लिए अनुसन्धान का विषय है। न्याय के परमाणुवाद पर जगत् हजारों वर्षों की वैज्ञानिक यात्रा के बाद आज पहुंचा है। सांख्य दर्शन की सुख-दुःख-मीमांसा, त्रिगुण सिद्धांत, प्रकृति-पुरुष के सूक्ष्म

समीक्षण आदि साधारण तत्त्व-ज्ञान नहीं कहे जा सकते। उपनिषदों के बताये गए आत्म-शांति के सरल मार्ग ने यूरोप के तत्त्व-ज्ञानियों को भी शिष्य बनाया है। मैक्समूलर ने स्पष्ट शब्दों में कहा था कि 'मानवी मस्तिष्क ने सबसे बड़े सिद्धांत और सबसे बड़ी युक्तियां हिन्दुस्तान में ही निकालीं।' जर्मनी के प्रख्यात दार्शनिक शोपनहार ने कहा था कि 'उपनिषदों से मुझे अपने जीवन में शांति मिली है और उपनिषदों से ही मुझे अपनी मौत में शांति मिलेगी।' हाउस्टन स्टुअर्ट चैम्बरलेन आदि भी, जो सदा जर्मन जाति के ही गीत गाया करते थे, इतना तो मान ही गए हैं कि तत्त्व-ज्ञान में भारतीयों की बराबरी कोई नहीं कर सकता। वे लोग कह चुके हैं कि विश्व की पहेली कभी-न-कभी सब के सामने आती है। इस प्रश्न से कोई बच नहीं सकता कि मौत के बाद क्या होता है। हिन्दुओं का स्वभाव इतना गम्भीर था कि इन प्रश्नों का उत्तर पाये बिना वे चैन नहीं पा सकते थे।

यह भी हिन्दुओं ने समझ लिया था कि तत्त्व-ज्ञान के क्षेत्र में मत-भेद अनिवार्य होता है, यद्यपि इस बात को दूसरी जातियाँ १६वीं सदी में आकर समझ पाईं। सत्य की खोज में सहनशीलता से काम लेना चाहिए। भारतीय दर्शनों की यह बड़ी विशेषता है कि वहां मतभेदों की अपूर्व सहनशीलता और विचारों की सराहनीय स्वतन्त्रता है। एक दार्शनिक ईश्वर को मानता है तो दूसरा नहीं मानता। तीसरा तीसरी बात मानता है। इस प्रकार छः दर्शन आस्तिकों के और छः ही नास्तिकों के बने। विचारों के संघर्ष के बाद जाति को विलक्षण दार्शनिक सत्य मिले, जो बिना संघर्ष के मिल ही नहीं सकते थे। इस प्रकार भारतवर्ष का स्थान दार्शनिक ज्ञान में बहुत ऊंचा है। दार्शनिकों की जाति (philosophers' nation) नाम भारतवर्ष को ही मिल सका; औरों को नहीं।

हमारी सभ्यता में आत्म-संयम

आइए, अब तीसरी कसौटी से अपनी सभ्यता को परखें। यह कसौटी

आत्म-संयम की है। भारतीय इस बात को भली-भांति जानते थे कि सूखे ज्ञान-मात्र से संतोष नहीं होता। उस ज्ञान के आधार पर अपने व्यक्तित्व को ऊंचा उठाना चाहिए। उन्होंने ऐसा ही किया। वे इस बात को भली-भांति जानते थे कि मनुष्य चाहे और कुछ करे या न करे, उसे अपनी प्रकृति पर विजय अवश्य प्राप्त करनी चाहिए। क्रोध, मान, माया, लोभ, मात्सर्य आदि असामाजिक मानव-प्रकृतियों की हमारे इतिहास में कितनी निन्दा है और इन्हें दमन करने का कितना प्रयास किया गया! उसमें सफलता भी भारतीयों से अधिक किसी ने नहीं पाई। ब्राह्मण, बौद्ध, जैन आदि धर्मों से जितने नीति-शास्त्र सम्बद्ध हैं, उन सब में आत्म-संयम कूट-कूटकर भरा है। भगवान् बुद्ध से अधिक आत्म-संयम संसार का कौन महापुरुष कर सकेगा! स्वामी रामकृष्ण परमहंस का इन्द्रिय-दमन और उससे मिली आश्चर्यजनक सफलता तो निकट अतीत की ही बात है। हमारे पुराण साहित्य में तो ऐसे-ऐसे ऋषियों की तपस्याओं का वर्णन है जिनकी समाधि-अवस्था में उन पर दीमक चढ़ गई थी और वे उसी में ढक गए थे। महर्षि वाल्मीकि, ऋषि च्यवन ऐसों में से ही हैं। कर्मयोगी भीष्म का सा आत्म-संयम संसार के इतिहास में शायद ही कहीं मिले। और ये दृष्टांत अपवाद स्वरूप इने-गिने नहीं हैं। गुरुकुलों में बालकपन से ही, जीवन के चौथाई भाग तक, आत्म-संयम बड़ी कठोरता से सिखाया जाता था। गृहस्थियों को भी संयम का उपदेश दिया जाता था। वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रम तो आत्म-संयम के क्रियात्मक रूप ही थे। हिन्दुओं का त्याग ऊंचे दर्जे का था। ऐसे दृष्टान्त अनेक हैं जो विशाल राज्यों को पुराने कपड़ों के समान त्यागकर अपनी ध्येय-पूर्ति में लग जाते थे। हिन्दू धर्म का प्रधान अंग या लक्षण संयम है। परन्तु हिन्दू सभ्यता में संयम की प्रशंसा से यह तात्पर्य नहीं समझना चाहिए कि भारतवर्ष के प्रत्येक नर-नारी आत्म-संयमी थे। ऐसा होता तो आपस में युद्ध क्यों होते? ऐसा तो किसी समय किसी जाति में नहीं हो सकता। देखने की बात यह है कि भारतीयों

ने इस सभ्यता के चिह्न को अपने आदर्शों में रखा है या नहीं—तथा इसके अनुसार जीवन को ढालने का प्रयास किया है या नहीं। यह मानना पड़ेगा कि इस माप-दण्ड से भी भारतीय सभ्यता ऊंची ऊंचती है। यदि भारतीय नारी की आत्म-संयम के माप-दण्ड से अन्य देशों की नारियों से तुलना की जावे तो निःसंकोच उसका पहला स्थान होगा।

मानवीय प्रकृति पर विजय प्राप्त करने का बड़ा प्रयत्न केवल धर्म-शास्त्रों में ही हमें मिलता हो, ऐसा नहीं है। मूर्तियों तथा चित्रों में, मन्दिरों तथा मठों में आत्म-संयम की झलक स्पष्ट है ; बल्कि हिन्दू-कला का समीक्षण ही इस दृष्टि से करना चाहिए कि कलाकार ने कितना संयम उसमें रखा है। गौतम बुद्ध की जितनी मूर्तियां मिलती हैं। उन सबमें आत्म-संयम मूर्त रूप में बैठा प्रतीत होता है। जैन तीर्थंकरों की मूर्तियां प्रथमतः इन्द्रिय जीतने वालों की ही मूर्तियां हैं। ब्राह्मण धर्म में यह चीज कम न थी। हिन्दुओं के उपास्यदेव शिव ही कामदेव को भस्म करते हैं। वही हमें शिव की मूर्तियों में मिलता है। सब लोग ऐसा मानते हैं कि ग्रीस की मूर्ति-कला में शारीरिक सौन्दर्य तथा भारतीय मूर्ति-कला में नैतिक सौन्दर्य है। हिन्दू चित्रों में भी संयम को प्रकट करने का प्रयास है। बल्कि इस सम्बन्ध में हम यह कहना भी अनुचित नहीं समझते कि हमारे पूर्वजों ने असामाजिक प्रवृत्तियों का आवश्यकता से अधिक दमन किया और उसके परिणामस्वरूप समाज में दोष उत्पन्न हो गए। उदाहरण के लिए अभिमान को ले लीजिए। यह प्रवृत्ति असामाजिक है। इससे मनुष्य दूसरों को तुच्छ समझता है और उससे उपद्रव होते हैं। पर यदि अभिमान का मूलोच्छेदन कर दिया जावे तो व्यक्तित्व ही नष्ट हो जाता है ; जीवन चक्र का केन्द्र ही बिगड़ जाता है। आवश्यकता इस बात की है कि इस अहम् भाव को सामाजिकता से भर दिया जाये। उसका नाश नहीं करना चाहिये। हमें अभिमान हो, परन्तु अपने चरित्र का हो, अपनी अहिंसा का हो, अपनी समाज-सेवा का हो। इसी प्रकार दया को ले लें। सीमा से अधिक दया कायरता बन जाती है। समाज पर सामूहिक तथा

व्यक्तिगत अनेकों आपत्तियां आने लगती हैं। इसलिए हिंसा-वृत्ति का अनुचित दमन नहीं करना चाहिए।

हमारी सभ्यता में समाज-सेवा

सभ्यता का चौथा लक्षण समाज-सेवा है। समाज-सेवा में समाज के अर्थ का निर्णय भी आवश्यक है। समाज शब्द का यदि संकीर्ण अर्थ किया जावे तो प्रत्येक जाति समाज-सेवा में लगी प्रमाणित होती है। अपनी स्त्री, बच्चे, भाई, बहन की सेवा सभी करते हैं; यह भी संकीर्ण अर्थ में समाज है। यदि वास्तव में व्यापक अर्थ में समाज को लिया जाय तो मानव-मात्र समाज में आ जाता है। इस दूसरे व्यापक अर्थ की दृष्टि से संसार की कोई जाति समाज-सेवी नहीं कही जा सकती। अपने देशवासियों की अपेक्षा दूसरे देशवासियों से घृणा करना प्रायः सबमें मिलता है। आज तक वह चीज मौजूद है। बल्कि इस दृष्टि से भारत की सभ्यता अच्छी है। विदेशियों के प्रति घृणा का भाव भारत में नहीं है। बहुत-सी जातियां उसी भावना के फलस्वरूप भारतीयों में मिल चुकी हैं। उदार चित्तों का कुटुम्ब समस्त संसार है। यह हमारा आदर्श है। पर समाज शब्द का यह अर्थ, जो अभी तक आदर्श ही है, व्यवहार में नहीं आया। साधारणतया इसका अर्थ अपने देशवासियों से होता है, अपने साथियों और पड़ोसियों से होता है। इसमें कहना पड़ेगा कि भारतवर्ष अधिक उन्नति नहीं कर पाया। जातियों के भेद, वर्णों के भेद, धार्मिक विचारों के भेद ने पारस्परिक सहानुभूति को घटाया। नीच वर्णों का यहां अपमान हुआ है। समानता का भाव सम्पूर्ण समाज में नहीं था। जीवन के व्यवसाय नियत थे। चमार का लड़का चमार का ही काम कर सकता था, पढ़ाने का नहीं। राष्ट्रीयता का भाव इसीलिए उदय नहीं हो सका। हिन्दुत्व का भाव भी मुसलमानों के अत्याचारों के फलस्वरूप बाद में पैदा हुआ। इस कमी का फल भी जाति ने भोगा। विदेशियों के अनेकों आक्रमण

हुए और उनमें देश इसलिए पराजित हुआ क्योंकि संगठन नहीं था। वे मुकाबला न कर सके।

हमारी सभ्यता में सामञ्जस्य

अस्तु, सामाजिकता तथा समाज-सेवा की दृष्टि से हिन्दु सभ्यता को वैसी सफलता नहीं मिली जैसी और मामलों में हुई। तो भी यह मानना पड़ेगा कि राजनैतिक, आर्थिक एवं धार्मिक मामलों में आपस में एक सामञ्जस्य (Adjustment) हो गया था। एक तरह की व्यवस्था बंध गई थी। एक समझौता चलता था और वह शताब्दियों तक चला। प्रत्येक गांव अपनी आवश्यकताओं को पूरा कर लेता था, प्रत्येक उपजाति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति में स्वतंत्र थी। शेष प्रयोजनों के लिए छोटे-छोटे राज्य और बड़ी-बड़ी बातों के लिए बड़े-बड़े राज्य थे। प्रश्न असल में यह है कि हमारे जो विचार, भाव और प्रवृत्तियां हैं उन्हें सामाजिक कैसे बनाया जावे। इसके लिए कुछ सिद्धान्त, कुछ संस्थाएं चाहिएं। भारतीयों ने जो बातें निकालीं, इस सिलसिले में संघ-प्रथा का उदाहरण दिया जा सकता है। सैकड़ों हजारों मील के भू-भाग पर उस अवैज्ञानिक काल में केन्द्रीय शासन नहीं हो सकता था। पर इसके साथ-साथ राजनीतिक संघ-प्रथा के बल से हिन्दू राज्य ने जनता की बड़ी सेवा की। यह संघ-प्रथा आर्थिक जीवन में भी थी। व्यापारियों की श्रेणियां बन जाती थीं, जो बहुत हद तक व्यापारिक मामलों में स्वतन्त्र थीं। धार्मिक सहिष्णुता भी सामञ्जस्य का रूप है। भारतीय धर्म में व्यापकता और सहिष्णुता सबसे अधिक है। अपने अनुयायी को विचार और पूजा की स्वतन्त्रता जैसी हिन्दू धर्म देता है वैसी और कोई नहीं। चाहे कोई केवल एक परमेश्वर को माने चाहे अनेक देवताओं को, द्वैतवादी हो या अद्वैतवादी, कर्म-काण्डी हो या योगी, सबको यहां स्थान है। मानो यह राजनीतिक संघ सिद्धान्त का धार्मिक व्यवहार है।

इसी उदारता के बल पर हिन्दुओं ने अनेकों अनार्य मतों को

भारतीयता में समेट लिया। अहिंसा के सिद्धान्त को ले लीजिये। यद्यपि अहिंसा का आदर्श सब धर्मों में है, पर इसका क्रियात्मक रूप हिन्दू-सभ्यता में ही मिलता है। बौद्ध और जैन धर्मों का तो आधार ही यह है। सनातन धर्म को भी यह मान्य है। सर्व-हित-चिन्तन भारतीय आचार का सबसे बड़ा गुण है। सबसे ऊंचा आदर्श, जो मानवीय मस्तिष्क रखता है, वह अहिंसा है। अहिंसा के सिद्धान्त का जितना पालन किया जायगा उतना ही अधिक समाज में सुख बढ़ेगा। संसार में इस आदर्श का प्रयोगात्मक परीक्षण नहीं हुआ। भारतवर्ष को इस बात का गर्व है कि इसने अपने अन्दर ऐसे वर्ग और सम्प्रदाय तैयार किए जो अहिंसा को न केवल धार्मिक अपितु राजनीतिक, आर्थिक क्षेत्रों में भी प्रयोग करते रहे हैं। आज भी गांधीजी को सामने रखकर भारतवर्ष संसार भर में श्रेष्ठ है। जब संसार इस आदर्श का पूरा प्रयोग करेगा तब जीवन का पूर्ण सामञ्जस्य होगा और गौतम बुद्ध, महावीर स्वामी एवं महात्मा गान्धी सरीखे उपदेशक संसार के—जीवमात्र के–सबसे बड़े हितैषी माने जायेंगे।

इस तरह हमने देखा कि सभ्यता की पांचों कसौटियों में भारतीय सभ्यता सबसे ऊंची प्रमाणित हुई है।

चौथा भाग

सामाजिक संगठन

हमारी सभ्यता का स्वरूप

भारत की सामाजिक व्यवस्था दूसरे देशों से भिन्न है ; और भिन्न भी इसलिए नहीं है कि दूसरे देशों में समाज व्यवस्थित रहे हों और भारतवर्ष में अव्यवस्थित। भारत का समाज तो अत्यधिक व्यवस्थित बन गया था। सारा समाज चार वर्णों में बंटा हुआ था—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। यह विभाग वेदों के समय से आ रहा है। इसके अनुसार बहुत समय तक हमारी जाति सुखपूर्वक रही है। यह विभाग इतना बुरा नहीं है, जितना इसे समझा जाता है। यह दूसरी बात है कि इसमें सुधार करने की आवश्यकता है।

सम्पूर्ण समाज के लिए जो-जो कर्त्तव्य आवश्यक हो सकते हैं उन सबको चार भागों में बांटा गया है—(१) मस्तिष्क का ज्ञान सम्बन्धी कार्य, (२) शारीरिक बल से किया जाने वाला वीरतापूर्ण रक्षा एवं शासन का कार्य, (३) आर्थिक कार्य, (४) सेवा-कार्य। समाज-सम्बन्धी जितने कर्त्तव्य हैं वे प्रायः सब इस वर्गीकरण में आ जाते हैं। प्रत्येक समाज में, चाहे किसी देश का हो, इन कर्त्तव्यों का पालन करने के लिए पृथक्-पृथक् वर्ग होते हैं। जहां भारतीय सामाजिक प्रथा नहीं है वहां भी यह वर्गीकरण मिलता है। सैन्य-संचालन, युद्ध, शासन, रक्षा आदि कार्य

एक वर्ग करता है, तो दूसरा वर्ग धार्मिक आदर्शों का अनुसन्धान तथा निर्धारण, उनका प्रचार और परिशीलन करने में लगा है। व्यापार करने वालों का वर्ग अलहदा है, तो शारीरिक काम करने वालों का अलहदा। इस प्रकार प्रायः सर्वत्र ही कार्य का विभाजन (Division of Labour) होता है। समाज का यह नियम है कि मनुष्य जो काम करेगा उसके अनुसार उसे अधिकार भी मिल जाते हैं । यदि ऐसा न हो तो वह कार्य ही न कर सके। स्कूल में पढ़ाने वाले अध्यापकों को बालकों को दण्ड देने का अधिकार न हो तो वे पढ़ाने का कार्य नहीं कर सकते। उनकी छुट्टियां मजदूरों से अधिक होनी चाहिएं। इसी प्रकार देश की सीमा पर होने वाली लड़ाई में भाग लेने के लिये जब सैनिक दौड़े जा रहे हों तो अध्यापक को यह अधिकार नहीं कि वह अपनी कक्षा को सड़क में बिठाकर पढ़ाने लगे और उनका रास्ता रोके। सेना के अधिकार को छीना जायगा तो वह अपना काम नहीं कर सकेगी। इसलिए कर्त्तव्यों के साथ प्रत्येक का अधिकार भी होता है। तो कर्त्तव्यों का विभाजन और उसके अधिकार तक की बात ठीक है; इतना होना ही चाहिए। भारतवर्ष में पहले सामाजिक कर्त्तव्य और अधिकारों का विभाजन मात्र था। उस विभाजन में फिर आगे यह परिवर्तन हुआ कि उन अधिकारों एवं कर्त्तव्यों को पैतृक बना दिया गया। यज्ञ कराने वालों के पुत्रों ने भी यज्ञादि कराए। शासकों के लड़कों ने भी शासन किया। परिणामतः यह वस्तु पितृ-परम्परागत बन गई; समय और परिस्थितियों के प्रभाव से यह दृढ़ होती चली गई एवं वर्गों में आपस में ऊंच-नीच का भाव पैदा हो गया। पहले ऐसा नहीं था। चारों वर्ग एक ही पिता की सन्तान समझे जाते थे। परस्पर घृणा नहीं थी, प्रेम था। सब को यह पता था कि समाज के संचालन के लिए प्रत्येक कार्य आवश्यक है। जिस प्रकार अध्यापकों के न होने से जाति मूर्ख रह जायगी, उसी प्रकार कपड़ा धोने वाले, हजामत बनाने वाले, मकान बनाने वाले आदि के बिना भी जीवन दुर्भर हो जायगा। जब तक यह भावना रही, भारतीय समाज सुख से रहा।

पर बाद में वर्ण-बन्धन अत्यन्त दृढ़ हो गया; रोटी-बेटी का सम्बन्ध टूट गया। प्रेम के स्थान पर कटुता और भेद-भाव आ गए। स्पृश्या-स्पृश्य के विचारों ने इसे और भी असामाजिक बना दिया। वास्तव में इस व्यवस्था को चलाने वालों का भाव ऐसा नहीं था। इसके अनुसार समाज ने चलकर बहुत से लाभ भी प्राप्त किये हैं और हानियां भी। कर्त्तव्यों का वर्गों में निश्चय हो जाने से कार्य-क्षमता और निपुणता बढ़ी। मस्तिष्क के काम करने वालों की सन्तानों ने भी वही कार्य किया। उन्हें बहुत सारा अनुभव अपने पूर्वजों से मिला और कुछ आप कमाया। सब मिला कर ज्ञान-विज्ञान की बहुत बड़ी उन्नति की। अपने काम को वे श्रद्धा और गौरव के साथ करते थे। पर साथ ही हानियां भी हुईं। यह प्रकृति का नियम नहीं कि पढ़ाने वाले का लड़का नियम से पढ़ाने वाला ही बने। उसकी शक्ति और सुझाव पृथक् हो सकते हैं। उसे क्यों बाधित किया जाय कि वह वही कार्य करे? दूसरी ओर, हाथ-पैर का काम करने वालों में ऐसा भी बालक पैदा हो सकता है जिसे शासन या नियमों के निर्माण में बहुत सफलता मिले। उसके लिए दरवाजे खुले रहें तो फिर कोई दोष नहीं। इस बात की हमारी सभ्यता में कमी रही। उदारता जैसी पहले थी, वैसी न रह पाई। इससे समाज को बहुत-सी हानि उठानी पड़ी। यदि यह प्रतिबन्ध भारतीय समाज में न होता तो हमारी सभ्यता और भी आगे बढ़ती।

धार्मिक विचार

हमारी सभ्यता में धार्मिक विश्वासों का स्थान बड़ा व्यापक है। जीवन का कोई क्षेत्र ऐसा नहीं है जो धार्मिक भावनाओं से प्रभावित न हुआ हो। राजनीति, अर्थोपार्जन तथा अन्य सांसारिक सफलताएं धर्म की सीमा में ही प्रवेश करती थीं। इस बात का विशद विवेचन करने के लिए यहां स्थान नहीं है; साधारण और सरल रीति से ही उसे कहा जा सकता है।

हमारे सबसे पहले धार्मिक ग्रन्थ वेद हैं। यहां से प्रत्येक प्रकार की

धार्मिक भावना का उदय होता है। इन वेदों का ऐसा प्रभाव हिन्दू आचार पर रहा है कि तब से अब तक के सम्पूर्ण जीवन की मर्यादाएं वेदों के वचनों से बंधी हैं। आज भी ऐसी कोई धार्मिक व्यवस्था स्वीकार नहीं होती जो वेदों के वचनों से पुष्ट न की जा सके। बीच में लगभग एक हजार वर्ष तक बौद्धों तथा जैनियों ने वेदों के बिना अपने धार्मिक नियम बनाये। इन धर्मों ने स्पष्ट रूप से वेदों की निन्दा की। उन्हें अनुपादेय सिद्ध किया। ऐसे लोग वेदों के समय से ही चले आ रहे हैं और वेद-काल में भी थे। उन्हीं की शाखा आगे बढ़ी। इस प्रकार भारतीय धर्म की दो शाखाएं आरम्भ से ही चलती हैं—एक वेदानुयायी, दूसरी उसके विपरीत।

वेदानुयायी धर्म

पहले हम वेदानुयायी धर्म का परिचय देते हैं। वैदिक समय से लेकर आज तक इस धर्म में वेदों की प्रधानता रही है। भारतीयों के विश्वास के अनुसार तैंतीस देवता होते हैं—आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, एक प्रजापति तथा एक वषट्कार। ये तैंतीस देवता भूलोक, भुवर्लोक (आकाश) तथा स्वर्गलोक (स्वर्ग) में निवास करते हैं। इन देवताओं का वेदों में बड़ा विस्तृत वर्णन मिलता है। पर विशेषता यह है कि देवताओं का यह वर्णन प्राकृतिक वस्तुओं के वर्णन से मिलता-जुलता है। उदाहरण के लिए बारह आदित्यों में अग्नि, सूर्य आदि का जो वर्णन है वह दुनिया में दीखने वाली अग्नि और सूर्य से मिलता है। बल्कि बहुत से लोगों को इतना तक भ्रम हो जाता है कि वेदों में देवता आदि कुछ नहीं, शुद्ध प्राकृतिक पदार्थों (Natural Phenomena) का ही वर्णन है। पर वास्तव में ऐसा नहीं है। ऋषियों ने अपने अनुभव से यह देखा कि इन प्राकृतिक वस्तुओं के मालिक व इनके संचालक इन्हीं की अधिष्ठात्री शक्तियां हैं। जिस प्रकार मिठास की बाहरी शक्ल गुड़, शक्कर या चीनी है, पर मिठास इससे

पृथक् वस्तु है, इसी प्रकार इन प्राकृतिक वस्तुओं में इनसे भिन्न इन्हीं की अधिष्ठात्री शक्तियां हैं। उनका अनुग्रह मनुष्यों को सुख, ज्ञान, ऐश्वर्य और आमोद-प्रमोद देता है। इसलिए उन्हें प्रसन्न करना चाहिए। उनके प्रसादन के दो प्रकार हैं। यज्ञों में उनके लिए आहुतियां छोड़ी जायं और मन्त्रों द्वारा उनकी स्तुति की जाय। यह कर्म-काण्ड है, उनकी अर्चना है। उन्हीं देवताओं की अपने धार्मिक ग्रन्थों के नियमों के अनुसार प्रतिमाएं बना ली जायँ, उनकी पूजा की जाय और स्तुति कर उनसे वरदान माँगा जाय; यह उपासना है। इसी का स्वरूप मन्दिरों का निर्माण तथा उनकी व्यवस्थाएं हैं। जब वे देवता प्रसन्न होते हैं तो मनुष्य इस जीवन के उपरान्त देवलोक में जाता है; यही स्वर्गलोक है। यहां सुख ही मिलता है, दुःख नहीं। यहाँ की प्रत्येक वस्तु देदीप्यमान होती है। मनुष्य जो चाहता है वहां उसे वही मिलता है। यह उत्तम लोक है। इससे भिन्न अन्तरिक्ष लोक में रहने वाले पितृगण हैं। इस लोक का नाम पितृलोक भी है। जो पितरों की पूजा करते हैं वे पितरों की प्रसन्नता स्वरूप पितृलोक को जाते हैं। इसके विपरीत जो लोग पृथ्वीलोक के निवासी भूत-प्रेतों की उपासना करते हैं वे उनमें मिल जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि कर्म एवं उपासना के द्वारा देवों, पितरों व भूतों की प्रसन्नता प्राप्त करना हिन्दू-जाति के धार्मिक विश्वासों का केन्द्र बना। यह भक्ति मार्ग है।

इस प्रकार देव, पितर और भूतों को प्रसन्न करने से सुख तो मिलता है पर वह हमेशा कायम नहीं रहता। अपने किये कर्मों के फल का भोग करने के बाद फिर इसी लोक में आना पड़ता है। इसलिए और कोई ऐसा प्रयत्न भी करना चाहिए जिससे आवागमन नष्ट हो जाय। वह मार्ग ज्ञान का है। ये जो भिन्न-भिन्न देवता हैं वे सब एक ब्रह्म के स्वरूप हैं। जिस प्रकार एक ही मनुष्य दफ्तर में क्लर्क, घर में अपने पुत्र का पिता, खेल के मैदान में खिलाड़ी, दुकान पर व्यापारी आदि बन जाता है, उसी प्रकार एक ही शक्ति भिन्न देवताओं के स्वरूप में है।

इसलिए उस शक्ति की प्राप्ति करनी चाहिए। उसे प्राप्त करने के उपाय ऊपर बताए कर्म और उपासना नहीं हो सकते; क्योंकि वे तो पितृलोक या स्वर्गलोक तक ले जाने वाले साधन हैं। उस शक्ति की प्राप्ति तो ज्ञान के द्वारा हो सकती है। इस ज्ञान की फिर कई धाराएं आगे चलकर बताई जायंगी। यहां सूक्ष्मतया यही लिखना पर्याप्त होगा कि इस ज्ञान-मार्ग का आदि-स्रोत वेद तथा उसी के अंग उपनिषद् हैं। पूर्व वर्णित उपासना और कर्म का स्रोत भी वेद तथा उसके अंगभूत ब्राह्मण ग्रन्थ हैं। ये दोनों मार्ग आपस में भिन्न नहीं हैं। इसीलिए दोनों में कोई विरोध नहीं है। कर्मोपासना का मार्ग सर्वसाधारण मनुष्यों के लिए है। जब कर्म और उपासना से हृदय शुद्ध हो जाय और सूक्ष्म तत्त्वों का चिन्तन करने का सामर्थ्य हो जाय, तो उस मार्ग को छोड़ कर दूसरे मार्ग को अपनाया जाता है। एक प्रकार से भक्ति-मार्ग ज्ञान-मार्ग की तैयारी का साधन है। पर इतना भेद है कि ज्ञान-मार्ग का अनुयायी बिना उपासना और कर्म किये भी बन सकता है। इस ज्ञान-मार्ग में उपास्य शक्ति का कोई आकार नहीं होता। वह तो ध्यान करने की वस्तु रह जाती है, देखने की नहीं। भक्ति तथा ज्ञान दोनों को योग्यता के भेद से बताने वाला प्राचीन हिन्दू धर्म है। इसी का नाम सगुणोपासना तथा निर्गुणोपासना है। हिन्दू धर्म में दोनों का समावेश है।

अवैदिक धर्म

जैन धर्म

हम पहले कह चुके हैं कि हिन्दू-धर्म की दो शाखाएं हैं—वैदिक और अवैदिक। वैदिक धर्म का सूक्ष्म परिचय दिया जा चुका है। अब हम अवैदिक धर्म का परिचय देते हैं। इसमें भी साधारणतया दो विभाग किये जा सकते हैं—एक शाखा ऐसी है जिसमें वेदों को नाम से आदर भले ही न दिया गया हो, पर व्यक्तिगत आचार पर बड़ा जोर

दिया गया है। व्यवहार में यहां भी वे ही बातें लिखी हैं जो वैदिक धर्म में है। ऐसे धर्म जैन और बौद्ध हैं। दूसरे कुछ लोग ऐसे भी हुए हैं जो न तो वेदादि की मान्यता ही करते थे और न अपने व्यक्तिगत आचार की शुद्धि पर ही ध्यान देते थे। "खाओ, पीओ, ऐश उड़ाओ" उनका सिद्धांत था। यद्यपि ऐसे लोगों ने भी युक्ति-प्रत्युक्तियों से अपने निरंकुश आचरण को मानवोपयोगी सिद्ध करने का बहुत प्रयास किया, परन्तु क्योंकि भारतीय सभ्यता में आचार-शुद्धि का बहुत ऊंचा स्थान था, इसलिए ऐसे धार्मिक विचार जम न सके। वे बरसात के कीड़ों की तरह पैदा हुए और नष्ट हो गए। चार्वाक भी उनमें से एक है।

जैन और बौद्ध धर्म के परिचय से पता लगेगा कि इनमें आचार-शुद्धि का, अन्य ऐसे मानवीय गुणों की अपेक्षा जो समाज में शांति फैलाते हैं, कितना आदर और व्यवहार है। जैन धर्म में आधारभूत सिद्धांत है कि व्यक्ति की आत्मा दुष्कर्मों से मिलकर दूषित हो जाती है, इसलिए ऐसे उपाय करने चाहिएँ कि दुष्कर्म होने ही न पावें। फिर मुक्ति मिल जायगी। अब यह तो सम्भव हो नहीं सकता कि व्यक्ति बिना काम किये जीवित रह सके। यह प्रकृति के नियम के विरुद्ध है। अतः पहले दुष्कर्मों को रोकना चाहिए। इसके लिए दो प्रकार की व्यवस्था की गई। एक तो गृहस्थियों के लिए, दूसरी विरक्तों के लिए। चूंकि गृहस्थी का जीवन सांसारिक अधिक है, इसलिए पांच नियम उसके लिए बनाये गए, जिससे वह दुष्कर्मों को अधिक-से-अधिक प्रयत्न से रोक सके। वे पांच नियम ये हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (जीवनोपयोगी सामग्री कम-से-कम अपने पास रखना)। इनमें से एक-एक वस्तु आदर्श मात्र ही नहीं रखी गई, प्रत्युत इनका जीवन में आचरण किया गया। अतः स्वभावतः एक-एक नियम का सब प्रकार से विशद वर्णन किया गया कि इनका पालन कहां तक हो सकता है। उदाहरण के लिए अहिंसा को ले लें। इसके पालन में अनेकों कठिनाइयाँ आ सकती हैं।

इसलिए हिंसा का स्वरूप और उसकी मर्यादा का निश्चय कर दिया गया। हिंसा शारीरिक, वाचिक तथा मानसिक—तीन प्रकार की होती है। मन से भी दूसरे का बुरा सोचना हिंसा है। पर गृहस्थी इसका इतना पालन नहीं कर सकता। इसलिए उसके फिर चार भेद किए। आनुषंगिक हिंसा, जो किसी दूसरे काम को करते समय हो जावे। जैसे—आटा पीसते, मकान बनाते, भोजन पकाते समय हिंसा होती है। दूसरी व्यावसायिक हिंसा, जो अपनी आजीविका का कार्य करते हुए हो जावे। जैसे—किसान खेत जोतते समय अनेक जीवों की हिंसा कर बैठता है। तीसरा आत्म-रक्षा सम्बन्धी। चोर यदि हम पर आक्रमण करे तो उससे रक्षा करते समय उसकी हिंसा हो सकती है। चौथी इरादे से की गई हिंसा, जो हिंसा करने के तात्पर्य से की जावे। इस चौथी हिंसा का निषेध गृहस्थियों के लिए किया है, शेष का विरक्तों के लिए। इस प्रकार इन पाँचों नियमों के पालन में गृहस्थियों को कुछ रियायतें दी गईं। इसी लिए गृहस्थियों के नियम "अणुव्रत" कहलाए। उसे न स्वयं झूठ बोलना चाहिए और न दूसरों को ऐसा करने के लिए प्रेरित करे। दूसरों की वस्तु को अपनाना, चाहे वह बलपूर्वक हो या धोखेबाजी से हो, चोरी है। उसे छोड़ना चाहिए। गृहस्थी को अपनी स्त्री से ही सन्तोष करना चाहिए, और वह भी केवल ऋतु-काल में एक बार गृहस्थ-धर्म करे। उसे अपने पास कम-से-कम वस्तु रखनी चाहिए। यदि वह अधिक धन उपार्जित करता है तो उसे दान में दे दे। यह आर्थिक समता पैदा करने का बड़ा उत्तम मार्ग है। इस तरह हमने देखा कि जैन धर्म में ये पाँचों "अणुव्रत" ऐसे हैं, जिनके पालन से समाज का जीवन बड़ा सुखमय हो जाता है।

इन अणु-व्रतों के बाद जो व्यक्ति विरक्त बनना चाहे उसके लिए तीन व्रत "गुण व्रत" और रखे हैं—(१) वह अपने चलने के लिए सीमा निर्धारित कर ले कि इतनी दूर ही मैं चलूंगा, अधिक नहीं। (२) अपने चलने-फिरने का समय भी निर्धारित कर ले। (३) जीवन के कुछ समय तक ही वह जीविकोपार्जन का नियम बना ले, उससे आगे नहीं।

इन तीनों नियमों का पालन करने के बाद वह विरक्त होने का अधिकारी बनेगा। फिर चार नियम और पालन करने चाहिएँ—(१) एकान्त में आत्मा तथा जीवन की अस्थिरता का चिन्तन। (२) अपनी वस्तुओं को छोड़ने का प्रयत्न करे। (३) अपने भोजन की मात्रा और गुण (सादगी) का निश्चय कर ले। उसे ही खावे, अधिक या उससे भिन्न नहीं। (४) अपने भोजन में से अतिथि को भी दे।

इस प्रकार सब मिलाकर बारह व्रत हुए, इनका पालन करने से मनुष्य विरक्त बनने का अधिकारी बनेगा। विरक्त होकर इन्हीं का पालन अधिक सख्ती से करे। लेश-मात्र भी हिंसा न होने दे। नंगा रहे या थोड़े वस्त्र पहने। मुंह पर कपड़ा बाँधे रखे, ताकि श्वाँस से जीव-हिंसा न हो, आदि-आदि। जो अणु-व्रत अर्थात् हल्के नियम गृहस्थियों के लिए थे वे ही विरक्त के लिए "महा-व्रत" हो जाते हैं। धीरे-धीरे बुरे कर्म होने बन्द हो जायँगे और पहले कर्मों का भी कठिन व्रतों से क्षय हो जावेगा। अन्त में आत्मा शुद्ध हो जावेगा और प्राणी मुक्त होगा।

इसी से मिलते-जुलते बौद्ध धर्म के उपदेश हैं। उनमें अहिंसा को व्यवहारोपयोगी अधिक बनाया गया है। उनमें तपस्या पर अधिक बल है। संसार में इतने भाग्यशाली महात्मा बुद्ध ही पैदा हुए कि उनके धार्मिक आदर्श राजनीति, साधारण व्यक्तिगत व्यवहार तथा वैदेशिक सम्पर्क में भी कार्यान्वित हुए। उन्होंने त्याग का जो अपूर्व उपदेश किया, उसे अपने जीवन में ढालकर भी बताया। महात्मा बुद्ध के जीवन-चरित्र से बौद्ध धर्म को बड़ी सहायता मिली। वास्तव में इस धर्म का मूर्त स्वरूप बुद्ध-जीवन ही है। उन्होंने जो किया और जो कहा, वही धर्म बन गया। धार्मिक सिद्धांतों की दृष्टि से जैन धर्म ने बहुत-सी बातें सीमा से आगे की रखीं, बुद्ध धर्म में ऐसा नहीं। वैसे साधारणतया दोनों धर्म मिलते-जुलते हैं। हमारे देश का गौरव बुद्ध धर्म से बहुत बढ़ा। हिन्दू सभ्यता के मस्तक पर बुद्ध धर्म हीरों का ताज है। विदेशों में प्रचार करने के लिए स्वयं भारतीय बौद्ध जाते रहे। आसपास के प्रायः

सभी पूर्वी देशों को इसकी दीक्षा मिली, इसके कारण बहुत दिन बाद तक भी विदेशों से लोग यहां धार्मिक शिक्षा लेने के लिए आते रहे ।

यहां यह विशेष ध्यान देने की बात है कि वैदिक धर्म की छाया में अवैदिक धर्म बहुत फीके पड़ गये । जैन धर्म बहुत पुराना है; इसके नियम और तत्त्व-ज्ञान के सिद्धांत साधारण नहीं । उसी प्रकार बौद्ध धर्म का तप और त्याग मनुष्य को आश्चर्य में डालने वाली चीजे हैं । एक समय तो सारा भारत और आसपास के पड़ोसी देश प्रायः बौद्ध हो चुके थे । फिर भी ब्राह्मण धर्म इन सब से ऊंचा उठ गया । इसका एकमात्र कारण यही था कि प्रारम्भ से लेकर आज तक ब्राह्मण धर्म में यह विशेषता रही है कि वह दूसरों के विचार, सिद्धान्त और आचार-गुणों को अपने अन्दर समेटता रहा है । उन्हें अपना रूप देकर हजम करता रहा है । वैदिक धर्म की विलक्षणता ने न केवल इसे जीवित रखा, बल्कि इसको प्रत्येक परिस्थिति में बढ़ाया । यह है भी उपयोगी । मानवीय सामाजिक गुणों का आविर्भाव एक ही समय नहीं हो सकता; समय का पहिया घूमता है और नवीन-नवीन परिस्थितियां पैदा करता है । उन परिस्थितियों के अनुसार नए-नए सिद्धांत, नए-नए आचार और मानव-प्रकृति के गुण पैदा होते रहते हैं । ऐसी दशा में मानव का हृदय कट्टरता से संकीर्ण बन उन गुणों के प्रति विमुख न हो, उनके लिए हमारे समाज का द्वार खुला रहे, इन्हें स्वीकार कर लिया जावे । वे घुल-मिलकर फिर तद्रूप बन जाते हैं । यह बात वैदिक धर्म में रही है, इसी से इसकी विजय हुई ।

पांचवां भाग

हमारी सभ्यता का संक्षिप्त इतिहास

वैसे तो हमारी सभ्यता के इतिहास के सम्बन्ध में अनेकों पुस्तकें लिखी जा सकती हैं, और लिखी भी जा रही हैं, परन्तु यहां इतना अवकाश नहीं कि उसका विशद वर्णन किया जावे। सूक्ष्मतया हम तो यही कह सकते हैं कि हमारी सभ्यता का उद्भव सोलह आने इसी भूमि में हुआ और इसका प्रारम्भिक स्वरूप वेदों में है। वेदों के अध्ययन से पता चलता है कि उस समय समाज पूर्णतः सभ्य था, उसमें उच्चकोटि का साहित्य बनाने की क्षमता थी। जीवन की साधारण खान-पान, वस्त्रादि की चिन्ताओं से आगे जन्म-मरण, इहलोक-परलोक के विचार होते थे। मानवोपयोगी धार्मिक सिद्धान्त स्थिर कर दिए गए थे। व्यापार, राजनीति, समाज-संगठन जैसे सभ्य समाजों में होते हैं वैसे उस समय परिस्थिति के अनुकूल थे। इससे आगे ब्राह्मण-काल आता है। इसमें प्रायः वैदिक काल की बातें ही परिवर्धित और परिमार्जित हुईं। यज्ञों पर विशेष बल दिया गया। अपने सिद्धान्तों को, चाहे वह सामाजिक हों या राजनीतिक, धार्मिक-युक्तियों से पुष्ट किया गया। वैदिक सिद्धान्तों का विकसित रूप ब्राह्मणों में है।

इसके बाद सूत्र-काल आया। समाज में अनेक परिवर्तन हुए। सामाजिक बन्धन दृढ़ हुए। वर्णाश्रम-व्यवस्था कसी गई। भाषा भी काफी बदल चुकी थी और साहित्य की धारा भी बदल गई थी। वेदानुयायियों की शाखा-

प्रशाखाएं फूट चलीं। प्रत्येक शाखा का उपयोगी धार्मिक साहित्य पृथक्-पृथक् था। लगभग इसी समय पुराणों की रचना हुई। वैसे तो पुराण बहुत काल तक चलते रहे, पर प्रारम्भ का समय यही है। यह हिन्दू सभ्यता का मध्याह्न था। प्रत्येक बात में उन्नति थी ; पर एक विशेषता पैदा हो गई। वर्ण-व्यवस्था से ऊंचनीच का भाव पैदा हो गया। ऊंचे वर्ण के लोग नीचे वर्ण के लोगों को तुच्छ समझने लगे। उन्हें मुक्ति का अधिकार न रहा। वे सत्कर्म भी नहीं कर सकते थे ; उन पर अपने गुणों का विकास करने पर राजकीय पाबन्दियाँ लगाई गईं। परिणामतः ये लोग असन्तुष्ट हुए। उसी असन्तोष के फलस्वरूप बौद्ध धर्म पैदा हो गया। अब से हमारी सभ्यता के संघर्ष का युग प्रारम्भ होता है। महात्मा बुद्ध ने वैदिक धर्म की इस कमी से लाभ उठाया। जनसाधारण की भाषा में अपने धर्मोपदेश दिये। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र का भेद-भाव अपने सिद्धान्तों में न रहने दिया। सबको मानवता के एक स्तर पर खड़ा कर दिया। स्वयं बड़ा त्याग और तपस्या की। वैदिक धर्म में यज्ञों के नाम पर जो अन्ध-विश्वास-पूर्ण हिंसा चल पड़ी थी, उसके विपक्ष में आवाज उठाई। जीवन को कृत्रिमता के गड्ढे से खींचकर स्वाभाविकता के हरे-भरे मैदान में लाकर खड़ा कर दिया। "सर्वभूतहित" का उपदेश दिया। परिणामतः देश के बड़े-बड़े राजे-महाराजे इधर खिंचे। वे इस धर्म में दीक्षित हुए। उनके बौद्ध बन जाने से उनकी प्रजा भी उनकी अनुयायी बन गई। उस समय भारतीय समाज में अपूर्व उत्साह था। विदेशों से सम्पर्क खूब बढ़ा। सारा देश एक साम्राज्य बन गया। शान्ति का राज्य हो गया। कला, विज्ञान, परस्पर सहानुभूति की भावना चरम सीमा तक पहुंच गई। संक्षेप में, मानवता जितनी उस समय बढ़ी उतनी आज तक नहीं बढ़ पाई। अशोक जैसे त्यागी, तपस्वी राजाओं ने इसमें चार चाँद लगा दिये।

पर समय का चक्र फिर बदला। बौद्ध सभ्यता में दोष पैदा होने लगे। उसका बाह्य रूप तो अच्छा रहा, पर व्यवहार में उसका पालन

मन्द हो गया, क्योंकि इसमें त्याग और तपस्या बहुत अपेक्षित थी। फिर वैदिक धर्म ने करवट ली। गुप्त साम्राज्य के समय की बात है।

चन्द्रगुप्त द्वितीय, जिसे विक्रमादित्य कहा जाता है, बड़ा उत्साही, वीर, पराक्रमी राजा था। सारे भारतवर्ष को उसने पराक्रम से अपने आधीन किया। जो साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो चुका था उसे फिर एकता के सूत्र में बाँधा। अशोक के बाद अब फिर भारत एक साम्राज्य बना था। यह वैदिक धर्म का अनुयायी था; समस्त भारत में दिग्विजय कर इसने अश्व-मेध यज्ञ किया। सारे देश के राजा इसमें भाग लेने आए। ब्राह्मणों को सोने की मुहरें व अशर्फियां बाँटी गईं। इस समय फिर वैदिक सभ्यता, या समझिये हिन्दू सभ्यता, का सूर्य ठीक मध्याह्न में था। बौद्ध सभ्यता के गुण वैदिक धर्म ने अपना लिये। उसके प्रति उदारता दिखाई, द्वेष नहीं। साहित्य का अपूर्व सृजन हुआ। विक्रमादित्य की सभा में कालीदास आदि नवरत्न रहते थे, जो हिन्दू साहित्य के भी नवरत्न बने। विज्ञान, कला, राजनीति, समाज-नीति—प्रत्येक चीज बढ़ी और बहुत बढ़ी। विदेशियों के आक्रमणों का करारा उत्तर दिया जाता था। भूखे भेड़िये के समान भारतीय सैनिक विदेशी सेना पर टूट पड़ते थे और उन्हें भगा देते थे। बाद में गुप्त साम्राज्य कुछ दुर्बल हाथों में आ पड़ा। इन्द्रियारामता, आलस्य व अनुत्साह ने सम्राटों को अपना शिकार बना लिया और उनका साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। स्थान-स्थान पर राजा बन बैठे। इसके बाद भी यशोधर्मन् ने टूटे भागों को जोड़ा और साम्राज्य बनाया, पर वह समस्त भारत में न व्याप सका और रहा भी थोड़े ही दिन। शक व हूणों के बल बढ़ते गए। परिणामतः राजनीतिक सत्ता दुर्बल हो गई। जब कमर ही टूट जावे तो प्राणी खड़ा कैसे हो! साहित्य, कला, विज्ञान, आचार आदि राजनीतिक सत्ता पर ही अवलम्बित होते हैं। वे भी छिन्न-भिन्न हो गए। हर्षवर्धन तक हमारी तूती बोली। इसी समय जगद्गुरु शंकराचार्य ने अद्वैतवाद के सिद्धान्त से बौद्धों के रहे-सहे प्रभाव को खण्डित किया। धर्म तथा तत्व-विद्या

के इतिहास में आचार्य शंकर का स्थान भी बहुत ऊंचा है।

फिर हमारी शक्ति क्रमशः क्षीण होती गई, मुसलमानों के आक्रमणों से वह और भी क्षीण होगई। इस समय से पहले भारतीय धार्मिक विश्वासों को आक्रान्ता लोग भी ऊंचा समझते थे और वे इसी में मिल जाते थे। पर मुसलमान लोग इनसे भिन्न प्रमाणित हुए। कुछ ने तो हमारी सभ्यता का कट्टरता से विरोध किया, कुछ लोग अपने धर्म से अडिग बने रहे। इनके राज्य-काल में हिन्दू सभ्यता पर बड़े आक्रमण हुए। गोरी, औरङ्गजेब आदि ने तो बलपूर्वक इसे दबाने का प्रयत्न किया। इसके विपरीत अकबर, दारा आदि इसके गुणों को पहचान भी गए थे। वे इसके शिष्य बन चुके थे। और भी बहुत से लेखक तथा प्रचारक इस धर्म की दीक्षा में आए; पर हिन्दू सभ्यता साधारणतया कष्ट में रही। अपना परिवर्धन तो दूर रहा, संरक्षण के लाले पड़ गए। एक गुण इस समय हमारी सभ्यता में आया, जिससे हिन्दुत्व जाग गया। गुरु नानक, समर्थगुरु रामदास, वीर शिवाजी, प्रताप, बन्दा वैरागी जैसी विभूतियां हिन्दू जाति में पैदा हो गईं। उन्होंने बड़े बलिदान किये। गुरु गोविन्दसिंह के लड़कों के बलिदान ने समस्त भारत के हिन्दुओं के अभिमान को जगा दिया; इसी के फलस्वरूप हिन्दुत्व का संरक्षण हो गया। शनैः-शनैः मुसलमानों ने हिन्दुओं के कुछ आचार-विचार अपनाए। सूफी मत उसी का मूर्तरूप है। कुछ हिन्दुओं के विचार, वेष-भूषा, रहन-सहन पर मुस्लिम सभ्यता का असर पड़ा। दोनों मिलकर एक हो गए। भाई-भाई के समान रहने लगे। द्वेष न रहा; प्रत्युत निर्वाह की भावना पैदा हो गई।

मुसलमानों की प्रभुता भी न रही। विलासिता तथा आलस्य के शिकार ये भी बने। समय ने फिर दूसरी करवट बदली; राजनीतिक सत्ता अंगरेजों के हाथ में चली गई। अंगरेजों ने भारतीय इतिहास से फायदा उठाया। इन्होंने हिन्दू-मुसलमानों के हृदयों को पहले ही जान लिया था। वे जानते थे कि बलपूर्वक हम अपनी सभ्यता की स्थापना यहां

नहीं कर सकेंगे। इसलिए चालाकी से उन्होंने अपने धर्म, आचार, वेष तथा आदर्शों का प्रचार किया। वैसे भी विजित जातियां विजेताओं की नकल करती हैं। दूसरे अब का समय प्राचीन समय से बड़ा भिन्न है। विज्ञान के बल से एक देश दूसरे देश के अति निकट हो गया है। सभ्यताओं का इसी कारण सम्मिश्रण होगया। इस समय का प्रधान जीवन-लक्ष्य राजनीति है; धर्म, आचार, वेष आदि नहीं। कला, साहित्य, विज्ञान व आचार आदि सब में राजनीति का प्रभाव है। भारतीय सभ्यता भी बहुत कुछ इसी प्रभाव में है। राष्ट्रीयता के उदय होने और स्वतंत्रता प्राप्ति के साथ कुछ भारतीयता भी उठी है। पर अब की भारतीयता के अर्थ हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई, पारसी आदि सभी की सभ्यता है, किसी एक जाति की नहीं। धार्मिक कटुता तथा जातिगत भेद-भाव भी मिटते जा रहे हैं। नीच वर्गों के उत्थान के लिए महात्मा गांधी महात्मा बुद्ध बन कर आए। इस समय सारा राष्ट्र जागृत है, चेतन है, अपनी खोई सत्ता के लिए मर-मिटने को तैयार है। महात्माजी ने अहिंसा के सिद्धांत को फिर ऊंचा किया। यदि यह इस देश में कार्यान्वित होगया तो मानना पड़ेगा कि हमारा देश सभ्यता की दृष्टि से फिर संसार का गुरु बनेगा। इस समय प्रतिस्पर्धा, द्वेष, अभिमान तथा सत्ता की मिथ्याभिलाषा से जातियां पागल हैं। इनके लिए अहिंसा का मार्ग अमृत होगा।

सब मिलाकर इस समय भारतीय सभ्यता फिर उन्नति की ओर बढ़ी जारही है।

छठा भाग

रहन-सहन

वैदिक काल

वैदिक काल से लेकर प्राचीन भारतीयों का साधारण जीवन विस्तृत रूप में बताने के लिए यहां स्थान नहीं है। संक्षेप में ही बताया जाता है। वैदिक काल का रहन-सहन सादा एवं सभ्य था। उन दिनों जीवन-निर्वाह के प्रधानतया दो मार्ग थे, पशु-पालन और कार्य अथवा व्यापार। यात्रा के लिए, दौड़ के लिए और लड़ाई के लिए घोड़े थे। बड़े आदमियों के पास सवारी के रथ होते थे, जो घोड़ों से खींचे जाते थे। रखवाली और शिकार के लिए कुत्ते होते थे—शिकार से आमोद-प्रमोद के अतिरिक्त भोजन का भी काम चलता था। सबसे उपयोगी पशु गाय और बैल ही थे। गायों का दूध तथा मक्खन आदि निकाला जाता था। बैल खेती के काम में आते थे। सिंचाई के लिए कुएँ, तालाब और कुल्या अर्थात् एक तरह की नहरें थीं। मकानों में लकड़ी का प्रयोग बहुतायत से होता था, जेवर पहनने की चाल बहुत थी। अमीर आदमी सोने और जवाहिरात के तरह-तरह के जेवर पहनते थे। वे लोग आस-पास के ही नहीं, दूर-दूर के देशों से भी व्यापार करते थे। रोटी-बेटी के सम्बन्ध में विशेष प्रतिबन्ध न होने पर भी, जो आगे चलकर हो गया, धार्मिक जीवन में यज्ञों की अधिकता थी। स्त्रियों का पद ऊंचा

था। स्त्रियां वेद-मन्त्रों की द्रष्टा हैं। विश्पला नाम की एक महिला की भुजा युद्ध में कट गई थी। अर्थात् वे युद्धादि में भी भाग लेती थीं। विवाह की रस्में अधिकतर अब की रस्मों से मिलती-जुलती थीं। बेटे वाले बरात लेकर जाते थे। रथादि पर लड़की को चढ़ाकर गाजे-बाजे के साथ ले आते थे। एक पुरुष अनेक विवाह कर सकता था। सम्मिलित कुटुम्ब प्रथा थी। घर में प्रधान का, चाहे वह पितामह हो या पिता हो या बड़ा भाई हो, बड़ा आदर होता था। पुत्रों की लालसा बहुत थी। गोद लेने की प्रथा भी थी। दासता की प्रथा यहां उतनी प्रचलित नहीं थी जितनी कि रोम या यूनान में थी। यह प्रथा कम और सहानुभूतिपूर्ण थी। अतिथि-सत्कार बड़ा प्रचलित था। शिक्षा का प्रबन्ध पाठशालाओं में होता था। नैतिक आदर्श बहुत ऊंचा था। उसके अनुसार सबको चाहिए कि हेल-मेल से रहें और ऋत अर्थात् सत्य या धर्म को अपने जीवन का अवलम्बन समझें। आमोद-प्रमोद खूब होता था, नाच-गाने का शौक बहुत था। आगे चलकर उसी काल में उद्योग-धन्धे बढ़ते दिखाई देते हैं। यजुर्वेद के पुरुष-मेध सूक्तों में किसान, चरवाहे, गड़रिये, मछुए, रथ वाले, नाई, धोबी, जुलाहे, लकड़हारे, रंगरेज आदि का उल्लेख है। तत्त्व-चिन्तन में भी लोग लगे थे। इससे आगे वैदिक-काल के अवसान में तो बहुत बढ़े-चढ़े रहन-सहन का पता लगता है। पढ़ने-पढ़ाने के लिये ब्रह्मचर्याश्रम थे। छान्दोग्य उपनिषद् में २० के लगभग पाठ्य विषयों का वर्णन है। पढ़ाई में ज्ञान से अधिक चरित्र पर बल दिया जाता था।

मौर्य-काल

मौर्य-काल के सामाजिक रहन-सहन का अच्छी प्रकार इतिहास मिलता है। मैगास्थनीज़ ने शायद राज्य की दृष्टि से सात वर्ग गिनाए हैं:- (१) तत्त्व-ज्ञानी, जिनकी संख्या बहुत न थी, पर प्रभाव बड़ा था। ये लोग किसी के नौकर नहीं थे—यज्ञ कराया करते थे। (२) किसान, जो

गांवों में रहते थे, लड़ाई या सरकारी नौकरी से अलग रहते थे। (३) चरवाहे और गडरिये। (४) कारीगर, जो खेती तथा लड़ाई आदि के औजार बनाते थे। इनसे कर नहीं लिया जाता था। (५) सिपाही, जो लड़ाई में काम करते थे, शान्ति के समय खाली बैठे रहते थे। (६) अध्यक्ष, जो हर एक बात की निगरानी करते थे। (७) मंत्री और अधिकारी, जो संख्या में सबसे कम थे पर अपने बुद्धि-बल और आचार के कारण सबसे अधिक आदर के पात्र थे। अशोक के शिलालेखों पर दिये गए निषेधों से पता चलता है कि समाज में आमोद्-प्रमोद बहुत होता था। अनावश्यक रूढ़ियां बहुत फैल गई थीं, पर अशोक ने कानून से उनको रोक दिया था। मौर्य साम्राज्य तथा गुप्त साम्राज्य के बीच में वैदिक धर्म फिर उन्नति पकड़ गया।

सूत्र-काल

इसमें स्मृतियाँ, जो भारतीय आचार-शास्त्र हैं, अधिकतर बनीं। चूंकि बौद्धों के अभ्युदय-काल में आचार पृथक् था, अतः उसमें परिवर्तन किये गए। इसलिए रहन-सहन के तरीके कुछ बदल गए। परन्तु देश की समृद्धिशालिता बढ़ती ही गई। नागरिक जीवन का वर्णन करते हुए वात्स्यायन लिखते हैं कि मकान के दो हिस्से होने चाहिएं—बाहर और भीतर। अलग-अलग कमरे, दफ्तर और एक उपवन हर मकान में होने चाहिएँ। पलंग, दरी, गद्दी, चन्दन, माला, गाना, बजाना आदि सब घरों में होना चाहिए। साहित्य-चर्चा, गाने-बजाने, गप-शप के लिए गोष्ठियाँ होनी चाहिएं। गाने-बजाने के आमोद-प्रमोद, जिनमें वेश्यायें भी थीं, बड़े होते थे। इनकी निन्दा बड़ी होती थी। कुछ वर्गों में कन्याएँ खूब शिक्षा पाती थीं; उनके कला-कौशल, वेष-भूषा, आभूषण आदि बड़े आकर्षक होते थे। गाँवों का रहन-सहन सादा था।

गुप्त-काल

गुप्त-साम्राज्य के स्थापित होने पर आश्रम-व्यवस्था पर जोर दिया गया। अध्ययन-काल में ब्रह्मचर्य, बीस-पच्चीस वर्ष गृहस्थ, फिर अपने

घर का कारोबार बेटों पर डालकर वानप्रस्थ लेकर वनों में चले जाना, फिर तपस्या का अभ्यास कर संसार का चित्त से भी त्याग करना*—बड़े-बड़े घरों में यह जीवन का नियम चलता था। इस प्रकार समाज का बहुत बड़ा अंग जंगलों में निवास करता था और धर्म-चर्चा, समाज-सुधार के नियम, भगवत्प्राप्ति आदि में लीन रहता था।

फाहियान लिखता है कि चाण्डालों के घर शहर के बाहर होते थे। जब वे शहर में आते थे तो एक लकड़ी बजाते थे, ताकि कोई उनसे छू न जावे। बौद्धों के साथ घृणा का भाव नहीं था। राजा या अमीर लोग बौद्ध भिक्षुओं को अन्न तथा वस्त्र बांटते थे। स्मृतियों के अनुसार स्त्रियों का पद बहुत गिर गया था। एक स्मृति में इन्हें "जोंक" लिखा है।

मध्य-काल

बाल-विवाह के नियम भी बन गये थे। कादम्बरी उपन्यास से प्रतीत होता है कि अमीर घरानों में ऐश्वर्य व भोग-विलास की सामग्री अपार होती थी। वेश्याएं दरबारों में जाती थीं। बौद्धों के साथ शास्त्रार्थ होते थे, पर सहिष्णुता बड़ी थी। नगर आम तौर से ऊंची मोटी दीवारों से घिरे रहते थे। कसाई, मछुए, नट, जल्लाद शहर के बाहर रहते थे। घरों में सफाई बड़ी रहती थी। चीनी यात्री युआन की धारणा है कि "भारतीय चाल-चलन के बड़े पक्के और ईमानदार हैं। पर बड़े जल्दबाज हैं और इरादे के कच्चे हैं। स्त्रियां दुबारा विवाह नहीं करतीं।" 'इत्सिंग' कहता है कि ब्राह्मण लोग हाथ-पैर धोकर चौकी पर बैठकर भोजन खाते थे। विद्यार्थी गुरुओं की बड़ी सेवा करते थे।

युआन-च्वांग ने उस समय बौद्ध भिक्षुओं के अलावा और बहुत तरह के संन्यासी देखे थे। कुछ मोर-पंख पहनते थे, दूसरे खोपड़ियों की

---

* *शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।*
वार्धक्ये मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥

रघुवंश, सर्ग १

माला पहनते थे, कुछ घास पहनते थे। वस्त्रधारियों के कपड़े कई तरह के होते थे। शास्त्रार्थ में हार जाने पर बौद्ध भिक्षुओं के चेहरे लाल या सफेद मिट्टी से पोत दिये जाते थे और उन पर धूल फेंकी जाती थी।

मुस्लिम काल

इसके आगे मुसलमानों के राज्य में सामाजिक उत्साह बहुत बदल गया। नये आक्रमणों से जाति में उल्लास का स्थान निराशा ने ले लिया। अन्य धर्मों और जातियों से अपनी विलक्षण सभ्यता की रक्षा करने के लिए हिंदू समाज में जाति-पाँति व खाने-पीने के बन्धन और भी कड़े कर दिये गए। स्वतन्त्रता के समय समाज का संगठन पुरोहित तथा राजाओं के हाथों में था—अब केवल पुरोहितों के हाथों में ही रह गया था। विदेशों से सम्पर्क छूट जाने पर उदारता नष्ट हो गई। मुसलमानों में पर्दे की प्रथा बहुतायत से थी; उनके अनुकरणस्वरूप हिंदुओं में भी यह प्रथा बलवती हो गई। बाल-विवाह बढ़े, क्योंकि जवान लड़कियों के अपहरण की आशंका रहती थी। पहले जीवन का दृष्टिकोण अधिक आशामय था; कर्म-सिद्धान्त को लोग आदर्श समझते थे। अब निराशा छा गई। अशरणों के शरण भगवान् ही केवल सहारा रह गए। तुलसीदासजी के मुख से यह शब्द निकले :—

हानि-लाभ, जीवन-मरण, यश-अपयश विधि हाथ।
सुनहु भरत भावी प्रबल, बिलखि कहेउ रघुनाथ॥

हाँ, विदेशी सभ्यता के सम्पर्क स्वरूप कबीर, गुरु नानक आदि महापुरुषों ने ईश्वर की एकता का उपदेश दिया। इस समय देश में बहुत से नये धर्म बने। नई-नई मिठाइयाँ बनीं। वस्त्रों का रिवाज भी नया चल पड़ा। बाग बनवाने का शौक आम हो गया था। यह स्पष्ट है कि यद्यपि मध्य-काल में हिंदुओं ने अपने जीवन को नई परिस्थिति के बहुत कुछ अनुकूल बना लिया, तथापि उनकी सभ्यता के पुराने सिद्धान्त पुराने रूप से कुछ परिवर्तित रूप में प्रचलित रहे। पुरानी शृंखला कभी टूटने न पाई।

सातवां भाग

भारतीय दर्शन

इतिहास में अनेक जातियों ने संसार और सभ्यता के एक-न-एक नये अंग की पूर्ति विशेष रूप से की है। प्राचीन ग्रीस ने कला तथा साहित्य में सौन्दर्य का भाव प्रदान किया। रोम ने कानून तथा व्यवस्था का प्रकाश दिखाया। इसी प्रकार भारतवर्ष ने दार्शनिक ज्ञान से संसार को आलोकित किया। इस क्षेत्र में भारतीय बुद्धि के सब से बड़े चमत्कार दृष्टिगोचर होते हैं। इसमें दुनिया का कोई देश भारत से बराबरी नहीं कर सकता। हिंदुओं की पैनी अन्तर्दृष्टि तथा तर्क ने जड़ और चेतन, आत्मा और परमात्मा, मन और बुद्धि एवं विचार और तर्क इत्यादि को जानने का प्रयत्न किया।

भारतीय दर्शनों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यहां तर्क का बड़ा आदर है। दर्शन के प्रमेय पदार्थ (आत्मा, प्रकृति आदि) इन्द्रिय-गोचर नहीं होते। उन्हें तर्क से जाना जाता है। इसीलिए भिन्न-भिन्न तर्कों से भिन्न-भिन्न परिणाम निकलते हैं। फलतः मतभेद हो जाता है।

हमारे देश में दार्शनिक चर्चा कुछ इने-गिने ऊंची कोटि के विद्वानों में ही सीमित नहीं रही, किंतु यह सारी जनता के आध्यात्मिक जीवन का अंग हो गई थी। दर्शनों के कुछ मोटे-मोटे सिद्धान्त विद्वानों की कुटिया से निकलकर जनता के प्रत्येक वर्ग में फैल गए। साहित्य भी इससे बड़ा

प्रभावित हुआ। इतना ही नहीं, यह दार्शनिक प्रभाव बौद्ध धर्म के साथ-साथ लंका, बर्मा, स्याम, चीन, जापान, तिब्बत और मंगोलिया तक पहुँचा। तत्त्व-ज्ञान की जो धाराएं देश में बह रही थीं, वह चार्वाक, जैन, बौद्ध तथा भागवत सिद्धान्तों के अतिरिक्त इन छः भागों में विभक्त हुईं—(१) न्याय (२) वैशेषिक (३) सांख्य (४) योग (५) पूर्वमीमांसा तथा (६) उत्तर-मीमांसा। इनके सिद्धान्तों की उत्पत्ति तथा विकास का ठीक-ठीक निश्चय नहीं किया जा सकता। बिखरे स्वरूप में तो प्रत्येक दर्शन के मूल सिद्धान्त वेदों में मिल जाते हैं। आम तौर से मौर्य साम्राज्य से पूर्व ई० पू० पांचवीं शताब्दी तक इनके साधारण सिद्धान्त स्थिर हो चुके थे। आगे शंकराचार्य, रामानुज प्रभृति ने इसे विकसित किया। ये छहों दर्शन वेद को प्रमाण मानते हैं, पर तर्क के बल से वेद-वाक्यों का पृथक्-पृथक् अर्थ करते हैं। अब हम सूक्ष्मरूप से प्रत्येक दर्शन के सिद्धान्त देते हैं।

सांख्य

सांख्य दर्शन में दो मूल पदार्थ माने गए हैं—प्रकृति और पुरुष। पुरुष चेतन है और प्रकृति जड़। प्रकृति सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों की साम्यावस्था का नाम है। जब इन गुणों में वैषम्य होता है तो भिन्न-भिन्न पदार्थ उत्पन्न होने लगते हैं। प्रकृति से महान्, महान् से अहंकार, अहंकार से पांच तन्मात्राएँ पैदा हो जाती हैं। इन तन्मात्राओं से पाँच ज्ञानेन्द्रियां, पाँच कर्मेन्द्रियां, पाँच महाभूत तथा एक मन उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार प्रकृति या उससे उत्पन्न हुए तत्त्व चौबीस बनते हैं। पुरुष को मिलाकर पच्चीस बन जाते हैं। इस प्रकार तत्त्वों की संख्या करने से इसका नाम 'सांख्य' होगया।

महान् का नाम ही बुद्धि है। वह जड़ है। बुद्धि से पैदा हुआ ज्ञान भी जड़ है। पुरुष चेतन है। प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न होने से वह अनेक है। वह कोई काम नहीं करता; उदासीन रहता है। स्वच्छ बुद्धि पर उसका प्रतिबिम्ब पड़ने से बुद्धि को चेतनता-सी मालूम पड़ती है।

इधर बुद्धि के संयो से पुरुष अपने को 'का का करने वाला', उसका 'फल भोगने वाला' समझ लेता है। वस्तुतः वह ऐसा नहीं होता। यह पुरुष का भ्रम ही उसका बंधन है। वास्तव में सब काम प्रकृति करती है। उन कामों के फल सुख, दुःख और मोह भी उसी के हैं। पुरुष को इन्हें अपना न समझकर प्रकृति का समझना चाहिए; यही पुरुष का 'विवेक' है। विवेक होने से पुरुष मुक्त होजाता है। पुरुष विकृत नहीं होता, प्रकृति होती है।

इस दर्शन के प्रवर्तक महर्षि कपिल हैं।

वेदान्त

जिस प्रकार सांख्य प्रकृति और पुरुष दो भिन्न तत्त्व मानता है, वेदान्त उससे भिन्न केवल एक तत्त्व मानता है, जो ब्रह्म है। वह सत् (सदा विद्यमान), चित् (चैतन्यस्वरूप), आनन्द (सुखस्वरूप) है। उसी से जड़ और चेतन जगत् उत्पन्न हुआ है। वास्तव में सारा जगत् ब्रह्म ही है, ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं। जिस प्रकार समुद्र के किनारे जमा की हुई सीपियां दूर से चांदी मालूम पड़ती हैं, वास्तव में चांदी नहीं होतीं, उसी प्रकार ब्रह्म में ही जगत् का भ्रम हो जाता है। इस भ्रम का नाम अध्यास है। इसका कारण अविद्या (अज्ञान) है। हमारे शरीर में जो जीवात्मा है, वह ब्रह्म ही है; पर वह अज्ञान के कारण अपने असली रूप को भूला हुआ है। जब विद्या के द्वारा अविद्या का नाश हो जायेगा तो जीव और ब्रह्म का भेद मिट जावेगा। यही मुक्ति है। अपने असली रूप को समझ लेने पर प्रत्येक पदार्थ ब्रह्म ही मालूम पड़ने लगता है; फिर मोह, शोक आदि कुछ नहीं रहते। इस अविद्या के नाश के उपाय वेदों के वे महावाक्य हैं जिनमें जीव और ब्रह्म की एकता बताई गई है।

ये सिद्धान्त इतने ऊंचे थे कि जन-साधारण की पहुंच के बाहर रहे, विशेषकर ब्रह्म का स्वरूप। इसलिए कुछ दार्शनिकों ने ब्रह्म को करुणा-शील सगुण माना। ये लोग बोधायन, टंक, द्रविड़ गुहदेव आदि थे।

इनके विचारों का व्यवस्थित संकलन आचार्य रामानुज ने किया। इसलिए वह मत उन्हीं के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इनके अनुसार ब्रह्म सत्य है, व्यापक है, पर वह करुणामय है। वह चित् भी है, अचित् भी है। आत्माएं ब्रह्म के भाग हैं ; अतएव अनश्वर हैं। आत्माओं का ब्रह्म में मिल जाने पर भी पृथक्त्व रहता है। जगत् ब्रह्म से निकला है, पर बिलकुल झूठा नहीं है। इस विचार-श्रृंखला में ब्रह्म सगुण हो जाता है। अद्वैत की जगह विशिष्टाद्वैत आता है। चूंकि ब्रह्म करुणामय है, इसलिए उसकी भक्ति करनी चाहिए। प्रसन्न होने पर वह भक्तों को सब सुख देगा।

इस प्रकार एक ही वेदान्त की कई शाखाएं बन गईं। असल में वेदांत-दर्शन के मूल सिद्धान्त कहीं-कहीं संहिता तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों में परन्तु अधिकतर उपनिषदों में हैं। इनका संकलन बादरायण ने ई० पू० चौथी सदी में किया। इस पर अनेक भाष्य हुए। उन भाष्यों के अनुसार भिन्न-भिन्न शाखाएं बन गईं। अद्वैतवाद के प्रवर्तक आचार्य शंकर हैं, और विशिष्टाद्वैत के रामानुज।

पूर्व-मीमांसा

वेद के दो भाग हैं—कर्म-काण्ड और ज्ञान-काण्ड। कर्म-काण्ड में यज्ञ-यागादिकों का विधान है और ज्ञान-काण्ड में ज्ञान का। ज्ञान-काण्ड की मीमांसा वेदान्त कहलाता है और कर्म-काण्ड की मीमांसा पूर्व-मीमांसा। पूर्व-मीमांसा में यज्ञों के तरीके तथा श्रुति-वाक्यों के अर्थ लगाने के नियम बताये गए हैं। यदि दो श्रुति-वाक्यों में आपस में विरोध हो तो किस श्रुति को ठीक समझा जावे, श्रुति और स्मृति के विरोध होने पर स्मृति का कैसा अर्थ किया जावे, यदि स्मृतियों में कोई नियम या विधान है, और श्रुति में नहीं है तो समझना चाहिए कि उस श्रुति का लोप हो गया है—इत्यादि प्रश्नों और चालू नियमों का स्पष्टीकरण इसमें बड़ा अच्छा किया गया है। वास्तव में यह कर्म का विधान ही बताती है, सूक्ष्म-तत्त्वों का विवेचन इसमें नहीं है। फिर भी प्राचीन प्रथा से इसे दर्शन कहते चले आए

हैं। पूर्व-मीमांसा का विषय यज्ञ-कर्म-काण्ड वेदों के बराबर ही पुराना , पर इसकी व्यवस्था जैमिनि ने ई० पू० चौथी सदी में की थी, इसका नाम 'मीमांसा सूत्र' है। कुमारिल भट्ट, मण्डन मिश्र तथा प्रभाकर आदि इसके प्रधान टीकाकार हैं। माधव ने 'न्यायमालाविस्तर' नामक एक बड़ा ग्रन्थ अलहदा इस पर लिखा है।

योग

वेद तथा उपनिषदों में योग का खूब जिक्र आता है। बुद्ध तथा महावीर ने भी योग-साधना की थी। जैन तथा बौद्ध-धर्म वेदों को न मानते हुए भी योग को मानते हैं। इसके मूल सूत्र पतञ्जलि के हैं। विज्ञानभिक्षु आदिकों की टीकाएं हैं। इस दर्शन का सांख्य से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। सांख्य के सिद्धान्तों में ही कुछ विशेषता कर इसे पृथक् कर दिया गया है। सांख्य ईश्वर नहीं मानता, इसमें ईश्वर माना जाता है। इसके अनुसार चित्तवृत्तियों से ही दुःख पैदा होता है। उन्हें रोककर ईश्वराभिमुख कर दिया जावे तो आत्मा को शान्ति मिलती है। चित्त की इस एकाग्रता के लिए यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि साधन हैं। योग साधन से अनेकों विशेष बल प्राप्त होते हैं। योगी सब कुछ देख सकता है, जान सकता है। भूख-प्यास को जीत लेता है, आकाश पर चढ़ सकता है। पर इसका सच्चा ऊंचा ध्येय कैवल्य या मोक्ष प्राप्ति है।

न्याय

प्रमाणों से अर्थ को परखना न्याय कहलाता है। ई० पू० तीसरी सदी के लगभग महर्षि गोतम अक्षपाद ने इसको सूत्रों के रूप में संकलित किया। उन्होंने किसी वस्तु पर तर्क करने के लिए १६ मार्ग बताए हैं। उनमें प्रमेय भी आ जाता है, जो आत्मा, परमात्मा तथा जगत् की प्रत्येक वस्तु से अभिप्राय रखता है। प्रमाण चार हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, और शब्द। इन्द्रिय का वस्तु के साथ मेल होने से जो ज्ञान होता है वह

प्रत्यक्ष है। आंखों के वृक्ष के साथ मिलने पर वृक्ष का ज्ञान होता है। प्रत्यक्ष वस्तु के द्वारा उससे सम्बद्ध अप्रत्यक्ष वस्तु को जानना अनुमान कहलाता है; जैसे पहाड़ में धुएं को देखकर अग्नि का ज्ञान करना, यद्यपि पहाड़ों की अग्नि आंखों से नहीं दीखती। एक वस्तु की समानता से दूसरी को पहचानना उपमान होता है; जैसे कोई आदमी गधे को न जानता हो और उसे कहा जावे कि गधा घोड़े जैसा होता है। जब वह घोड़े की समानता के सहारे गधे को पहचाने तो वह उपमान होगा। सत्यवक्ता के वचन से किसी वस्तु का ज्ञान होना शब्द-प्रमाण है। जैसे भूगोल का अध्यापक कक्षा में बतावे कि ध्रुव प्रदेश के "एक्सिमो" लोग बर्फ़ों के मकानों में रहते हैं। उनका इस प्रकार के मकानों में रहना न आँखों से देखा गया, न अनुमान या उपमान से जाना गया। केवल अध्यापक के वचनों से ही ज्ञान हुआ। वेद-वाक्य भी इसी प्रमाण में शामिल हैं। प्रमेय शब्द से आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि, मन आदि का विवेचन है। ज्ञान जिसमें रहता है वह आत्मा है। चेष्टा, इन्द्रियों और अर्थ का आश्रय शरीर है। इन्द्रियां पांच हैं—नाक, कान, आंख, जीभ और त्वचा। ये क्रमशः गन्ध, शब्द, रूप, रस और स्पर्श को पहचानती हैं। ये ही अर्थ हैं। हमारे शरीर में रहने वाला आत्मा अल्पज्ञ है। परमात्मा सर्वज्ञ है। आत्मा को अनात्म पदार्थों से पृथक् पहचान कर सत्कर्मों द्वारा परमात्मा के साथ परम साम्य प्राप्त करना मुक्ति है।

वैशेषिक

इसके प्रवर्तक आद्याचार्य महर्षि कणाद हैं। "विशेष" नाम का पृथक् तत्त्व मानने से इसका नाम वैशेषिक हुआ। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय—ये छः पदार्थ हैं, जिनमें समस्त जगत् आ जाता है। पृथिवी, जल आदि नौ द्रव्य हैं। रूप, रस आदि २४ गुण हैं। कर्म पांच प्रकार के होते हैं। सामान्य का अर्थ जाति है, जो एक ही है। जिसके कारण एक वस्तु दूसरी वस्तु से पृथक् होती है, वह

विशेष है। दो वस्तुओं के नित्य सम्बन्ध को समवाय कहते हैं; जैसे फूल में गन्ध का सम्बन्ध।

इस न्याय का परमाणुवाद प्रसिद्ध है। किसी वस्तु के टुकड़े करते जाइए; जो छोटे-से-छोटा भाग है वह परमाणु है। सूर्य की किरणें जब झरोखे से होकर मकान में आती हैं तो प्रकाश में उड़ते हुए छोटे-छोटे धूलि-कण दिखाई देते हैं। उनमें से एक का साठवां भाग परमाणु* कहा जाता है। जब प्राणियों के कर्मों के भोग का समय आता है तो परमेश्वर सृष्टि करता है। जीवों के अदृष्ट के बल से वायु के परमाणुओं में चलन (Motion) उत्पन्न होता है। इस चलन से वे मिल जाते हैं। वायु के परमाणुओं के मेल से जल पैदा होता है। जल में पृथ्वी के परमाणु मिलने से पृथ्वी पैदा होती है। उसी जलनिधि में तेज के परमाणुओं के मिलने से तेज पैदा होता है। इस प्रकार समस्त सृष्टि उत्पन्न हो जाती है। यही संक्षेप में इस दर्शन का परमाणुवाद है। यह दर्शन बहुत पुराना है। जैन तथा बौद्ध ग्रन्थों में भी इसका उल्लेख आता है।

ये सब मिलकर 'षड् दर्शन' कहलाते हैं। इनके अतिरिक्त और भी दर्शन थे जो लुप्त हो गए। उनके कुछ-कुछ सिद्धान्त साहित्य-ग्रन्थों में बिखरे हुए हैं। ई० पू० छठी-सातवीं शताब्दी में देश में दर्शन और धार्मिक नियमों की बड़ी हलचल रही; स्त्रियों ने भी इसमें भाग लिया।

---

* *जालांतरगते भानौ सूक्ष्मं यद् दृश्यते रजः।*
तस्य षष्टितमो भागः परमाणुः स उच्यते ॥

आठवां भाग

हमारी राजनीति

वैदिक काल

हिन्दू सभ्यता के प्रभात (वैदिक) काल से ही राजनीतिक चेतना पर्याप्त मात्रा में मिलती है। ऐतरेय तथा तैत्तिरीय ब्राह्मणों में लिखा है कि जब असुरों ने देवों को युद्ध में पराजित कर दिया तो सबने मिलकर फैसला किया कि अब हमें अपना राजा बनाना चाहिए (राजानं करवामहै)। इस प्रस्ताव पर सब सहमत हो गए। अर्थात् आत्म-रक्षा और राष्ट्र का बल विपत्ति-काल में केन्द्रित करने के लिए राजा की उत्पत्ति होती है और वह राजा प्रजा की सम्मति से चुना जाना चाहिए; जैसे कि देवों ने मिलकर इन्द्र को अपना राजा बनाया। राजत्व की उन्नति का यह सर्वसम्मत सिद्धान्त आज के राजनीतिक विचारकों को भी स्वीकृत है।

मित्र और वरुण की राजा के रूप में स्तुतियां वेदों में मिलती हैं। इससे राजा के ठाठ और प्रभाव का पता लगता है। राजा वरुण और मित्र के हजार खम्भे वाले ऊंचे महल का वर्णन है। वे सुनहले कपड़े पहनते थे। राजा का कर्त्तव्य प्रजा की रक्षा करना था। ऋग्वेद ४।२०।६ में कहा गया है कि देवता उस राजा की रक्षा करते हैं जो रक्षार्थी ब्राह्मण की रक्षा करता है। यजुर्वेद, ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में सम्राट् शब्द का भी प्रयोग मिलता है। इससे पता चलता है कि एक राजा के आधीन

और राजा होते थे , राजा का अभिषेक तथा राजसूय-यज्ञ आदि इसी के द्योतक हैं । आधीनस्थ राजा अपने घरेलू कामों में स्वतन्त्र होते थे। उन्हें बड़े-बड़े सवालों पर अपने सम्राट् की आज्ञा माननी पड़ती थी। इस प्रकार राष्ट्रीय शासन केन्द्रित भी था, सब बड़े पुरुषों का इसमें सहयोग था। राजा तथा सम्राटों की निरंकुशता भी उस समय नहीं थी। जनता की दो सभाएं होती थीं। एक 'सभा' दूसरी 'समिति'। समिति में सब भाग ले सकते थे, सभा में बड़े-बड़े विद्वान् और राजनीतिज्ञ। यह नहीं कहा जा सकता कि ये संस्थाएं चुनाव से बनती थीं या किस प्रकार से। शायद जाति के बड़े-बड़े लोग राज्य या प्रजा की अनुमति से इसके सदस्य बनते थे। ये सभाएं कानून, न्याय, व्यवस्था सबके नियम बनाती थीं। राजाओं तथा सम्राटों दोनों के ही लिए ये सभाएं होती थीं। यह प्रथा बहुत दिनों तक चलती रही। राजा वैसे वंशपरम्परागत होते थे, पर प्रजा की राय से। शासन में भी प्रजा की अनुमति थी। यह शासन-पद्धति वस्तुतः निर्दोष है। जनतंत्र के दोष भी इसमें नहीं और न एकतंत्र के।

राजा, सम्राट् और समिति—इन सबको मिलाकर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भारतवर्ष में एक प्रकार का संघ-शासन था, और वह भी जन-तन्त्र के रूप में। राजा का चुनाव होता था, पर उसी वंश से जिसका कि पहला राजा होता था। कर बहुत थोड़ा लिया जाता था। अपराधियों को कैदखानों में भी बंद किया जाता था। आगे चलकर कर आदि का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। जमीन की पैदावार में १/६ या १/६०, पशु और सुवर्ण का १/५०, फल, फूल, शहद, मांस इत्यादि का १/६० भाग राजकीय कर हो सकता है। समुद्र से आए माल पर चुंगी १/१० है। ब्रह्मचारी, मुनि, स्त्री, नाबालिग, अंधे और सेवकों से कर नहीं लेना चाहिए।

रामायण तथा महाभारत

रामायण तथा महाभारत में साम्राज्य की भावना उत्कर्ष पर है।

अन्य राजा आधीनता स्वीकार कर लेते थे और समस्त देश, या देश के बड़े भाग पर, प्रभुत्व एक ही का होता था। सभा या समितियां नहीं रहीं। उनके स्थान पर मन्त्रि-मण्डल राज-काज सम्भालता था। मंत्री अपने-अपने विभागों के लिये उत्तरदायी होते थे। राजा अश्वमेध, राजसूय आदि यज्ञ करके अपनी प्रभुता का सिक्का जमाते थे। लगभग यही पद्धति रामायण में भी है। यद्यपि प्रजा का प्रतिनिधित्व शासन में नहीं था फिर भी प्रजा की आवाज खूब सुनी जाती थी, क्योंकि प्रजानुरंजन राजा का प्रधान धर्म था।

मौर्य राज्य की स्थापना से पूर्व देश में गणराज्य थे। बौद्ध-ग्रन्थों म सोलह गणराज्यों के नाम आते हैं। ये अंग, मगध, काशी, कोसल, वज्जी, मल्ल, चेती, वंसा, कुरु, पंचाल, मत्स्य, सूरसेन, अस्सक, अवन्ती, गन्धार और कम्बोज हैं। जनता के बड़े-बड़े लोग एकत्र होकर राजनीतिक मामलों पर विचार करते थे और किसी रीति से अपना एक राजा चुन लेते थे। सिकन्दर के आक्रमण के समय भारत में गणराज्य ही थे।

मौर्य-काल

चन्द्रगुप्त मौर्य से लेकर अशोक तक का समय राजनीतिक इतिहास में सुनहले अक्षरों से लिखे जाने योग्य है। इस समय सुव्यवस्थित व्यापक साम्राज्य था। राजा बड़े ठाठ-बाठ से रहता था। ग्रीक लेखक थायलियन के अनुसार मौर्य राजधानी आठ मील लम्बी थी। इसके चारों ओर लकड़ी की दीवार थी; आने-जाने के लिए ६४ दरवाजे थे। आस-पास खाई थी, जिसमें शहर की नालियाँ गिरती थीं। राजा की ओर से नहरों के द्वारा जमीन की सिंचाई का प्रबन्ध था। साम्राज्य के प्रबन्ध के लिए राजधानी में पाँच समितियाँ थीं। एक उद्योग धन्धों का प्रबन्ध करती थी। दूसरी विदेशियों के निवास और उनकी जान-माल की रक्षा करती थी। तीसरी जन्म-मृत्यु का लेखा रखती थी। चौथी व्यापार

और बांट-माप का प्रबन्ध करती थी। पांचवीं समिति बनाए हुए माल की देख-भाल करती थी। चोरी बहुत कम थी। झूठी गवाही देने वालों की अंगुलियां काट ली जाती थीं। सेना का प्रबन्ध छः समितियों द्वारा होता था। पटना से उत्तर-पश्चिमी सीमा तक पक्की सड़क जाती थी। जासूस काम करते थे।

अशोक

अशोक ने शासन में बड़े परिवर्तन किए। सामाजिक कुरीतियों को कानून द्वारा रोका। देश में जगह-जगह पर कुएं, सड़कें, बाग तथा बावड़ियां बनवाईं। साम्राज्य कई प्रान्तों में बंटा था। उज्जयिनी, तक्षशिला, कलिङ्ग और सुवर्णगिरि का शासन राजकुमारों के आधीन था। इनकी सलाह के लिए सम्राट् के महामात्य (बड़े मन्त्री) होते थे। ये लोग ही राज-काज के लिये उत्तरदायी थे। महामात्यों के नीचे रज्जूक कर और न्याय का काम करते थे। इन्हें सम्राट् ने निष्पक्ष होने का उपदेश दिया है। इनके नीचे युक्त लेखक, बड़े-मंझले पुरुष तथा प्रतिवेदक (हलकारे) थे, जो प्रबन्ध करते थे। अशोक ने जेलखानों की हालत सुधारी। फांसी वालों की अपील की मुहलत का भी नियम बनाया। सब मिलाकर अशोक के शासन में अनेक सहानुभूतिपूर्ण सुधार हुए।

गुप्त-काल

गुप्त साम्राज्य भी मौर्य साम्राज्य के समान शासन-व्यवस्था की दृष्टि से उत्कर्ष का समय है। चीनी यात्री फाहियान, जो उस समय यहां आया था, उस शासन के विषय में बहुत कुछ लिख गया है। देश में शान्ति का राज्य था। किसी को प्राण-दण्ड न दिया जाता था। सम्राट् महाराजाधिराज परमेश्वर परमभट्टारक कहलाता था। सम्राट् का आधिपत्य मानने वाले बड़े राजा महासामन्त और छोटे सामन्त कहलाते थे। सामन्तों के भी आधीन राजा होते थे; वे नृपति कहलाते थे। आधीनस्थ राजा अपने घरेलू मामलों में स्वतंत्र थे। सेना, व्यापार, काश्त, न्याय, शान्ति, युद्ध आदि

अनेकों विभाग व्यवस्थित रूप से बना दिये गए थे। इनके पृथक्-पृथक् अफसर थे। साम्राज्य कई सूबों में बंटा था, जो भुक्ति कहलाते थे। भुक्ति-शासन के दफ्तरों में भी इसी प्रकार "तैक्षियुक्तिक" "उपरिक" आदि अफसर काम करते थे। भुक्तियां भी प्रान्तों में बटी थीं। प्रान्त विषय कहलाते थे। विषयपति की सलाहकारिणी समिति होती थी, जिसमें गांवों के बड़े-बड़े आदमी होते थे। सारे साम्राज्य में दण्डपाशिक, दण्डिक, चार, भट आदि लोग सब बातों का पता लगाते थे। ये लोग एक प्रकार के गुप्तचर और पुलिस जैसे थे। शौल्किक आने-जाने वाले माल पर चुंगी वसूल करते थे। गौल्मिक जंगल और किलों का इन्तज़ाम करते थे। ताम्रपत्रों से पता लगता है कि उद्रंग, उपरिकर, धान्य, हिरण्य, वात, भूत आदि कर लिये जाते थे। अपराधियों से जुर्माने और मजदूरों से बेगार ली जाती थी। करों के बदले में शासन की ओर से जान-माल की रक्षा तथा न्याय होता था।

इसके अलावा सड़कें, नहर, पुल, कुएँ, बाग, सराय, मन्दिर पाठशालाएं भी राज्य की तरफ से होती थीं। व्यवसायियों की श्रेणियां होती थीं। उनका बड़ा शासन होता था। कालीदास ने भी, जो चन्द्रगुप्त द्वितीय का राज-कवि था, आदर्श चक्रवर्ती राज्य का चित्र खींचा है। रघु ने अपनी दिग्विजय में राजाओं को मारा नहीं, वह सिर्फ उनसे कर लेकर चला आया।

वर्धन-साम्राज्य भी उन्हीं सिद्धान्तों पर स्थिर था जो गुप्त साम्राज्य के थे। सातवीं सदी में जमींदारी संघ-शासन प्रथा और भी कड़ी होगई थी। हर्षवर्धन के आधीन बड़े-बड़े १८ राजा थे, छोटे-छोटे तो बहुत थे। इस समय देश में राज्य की सहायता से नालन्दा जैसे विद्यापीठ चलते थे, जहां १५१० अध्यापक एवं १०,००० छात्र थे।

बाद में मुसलमानों के आने से हिन्दू शासन-प्रणाली छिन्न-भिन्न हो गई। फिर भी देश के कुछ भागों में वह बनी रही। शिवाजी की अष्ट-प्रधान-प्रणाली गुप्त शासन-प्रणाली से मिलती-जुलती थी। मुसलमान

राजाओं ने हिन्दू-शासन की बहुत सी बातों को स्वीकार किया। इन्होंने भी वैसे ही जिले बनाए और वैसे ही अधिकारी नियुक्त किये। गाँवों को वैसी ही स्वतन्त्रता दी और आने-जाने वाले माल पर वैसे ही चुंगी लगाई गई।

भारतवर्ष में प्रारम्भ से ही राष्ट्र की संयोजक तथा विभाजक शक्तियां बराबर काम करती रही हैं। संयोजक शक्ति के प्रबल होने पर देश एक साम्राज्य की एकता में बंधता रहा और विभाजक शक्तियों की प्रबलता से टुकड़े-टुकड़े होगया। चन्द्रगुप्त मौर्य ने छिन्न-भिन्न भारत को एक सत्ता-सूत्र में बांधा और वह अशोक के पुत्र दशरथ तक वैसा ही रहा। फिर चन्द्रगुप्त ने बिखरे पुष्पों की माला बनाई। विदेशियों के आक्रमण से वह बिखर गई। हर्षवर्धन ने फिर एकता कायम की; आखिर वही विभाजन फिर आगे आया। इसके बाद मुसलमानों ने भी देश को एक सूत्र में बाँधा। इससे जाति को लाभ ही हुआ। अंगरेजों के शासन में फिर एक सत्ता दृष्टिगोचर होती है। अब स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद देश में जो एकता स्थापित हुई है वह अभूतपूर्व है।

नवां भाग

हमारी सभ्यता के ध्वंसावशेष

हमारी सभ्यता का पता लगाने में जिस प्रकार साहित्य आधार बनता है उसी प्रकार प्राचीन राजाओं के शिलालेख, ताम्रलेख, स्तूप, मुद्राएं, पुराने खंडहर आदि भी आधार हैं। ये चिह्न इतिहास के जीते-जागते पन्ने हैं। ये बोलते हैं और अपना सारा हाल अपने आप ही बता देते हैं। छोटी-से-छोटी चीज़ भी इतिहास पर बड़ा प्रभाव डालती है। अब हम इसी दृष्टि से उन कुछ भग्नावशेषों का वर्णन करेंगे जो हमारी सभ्यता के इतिहास में बड़े परिवर्तनों के प्रमाण हैं और जिनका इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है।

हड़प्पा और मोहन-जो-दड़ो

हमारी सभ्यता के प्राचीनतम स्वरूप को बताने वाले इस प्रकार के साधनों में सबसे पहले नाम हड़प्पा और मोहन-जो-दड़ो का आता है। हड़प्पा मिन्टगुमरी जिले (पश्चिमी पंजाब) में एक गांव है जो कि रावी नदी के दक्षिण की ओर पुराने खुलरावे के ऊपर बसा हुआ है। मिण्ट-गुमरी से १६ मील पश्चिम की ओर "हड़प्पा रोड" नाम का रेलवे स्टेशन भी है। यहां से ४ मील के लगभग हड़प्पा है। यहां ३० फुट से लेकर ६० फुट तक ऊंचे थेह हैं। उन्हीं के ऊपर गांव बसा हुआ है। सन् १९२०-२१ में इसकी खुदाई की गई और उसमें उपलब्ध मुहरों तथा अन्य आवश्यक ऐतिहासिक वस्तुओं से हमारी सभ्यता के इतिहास

को बड़ा लाभ हुआ है।

सन् १९२१-२२ में, हड़प्पा की खुदाई के एक वर्ष बाद, मोहन-जो-दड़ो नाम के स्थान पर एक कुशाणकालीन स्तूप की खुदाई हुई। यह स्थान सिन्ध (पाकिस्तान) में नार्थ वैस्टर्न रेलवे के डाकरी स्टेशन (जिला लड़काना) से ८ मील दूर है। इस खुदाई में कुछ ऐसी मुहरें मिलीं, जो हड़प्पा की मुहरों से मिलती-जुलती थीं। खुदाई सन् १९३१ तक जारी रही और सारी खुदाई में यह समानता पाई गई। इसी प्रकार की चीजें बिलोचिस्तान के "माल" नामक ग्राम में और रोपड़ (पूर्वी पंजाब) जिले के कोटला निहंग नाम के ग्राम में भी पाई गई हैं। इससे निष्कर्ष निकलता है कि यह सभ्यता, जो इन खंडहरों से मालूम हुई है, बहुत दूर-दूर तक फैली थी। इस सभ्यता को सिन्ध नदी की सभ्यता का नाम दिया गया है।

इन दोनों स्थानों की खुदाई में कई प्रकार के बरतन, मिट्टी की मुहरें, मकान, मन्दिर, तालाब, स्नानागार और शहर निकले हैं। हड़प्पा में कम-से-कम पांच शहरों का पता लगा है। एक के उजड़ने पर, उसकी थेह पर, दूसरा बसता गया। ऊपर के दो के चिन्ह स्पष्ट नहीं। मोहन-जो-दड़ो में इस प्रकार सात बार बसे शहरों के चिन्ह हैं। इनसे पता चलता है कि उत्तर भारत में इतने पुराने समय में ऐसे नगर थे जिनमें जीवन के सुखों का अच्छा प्रबन्ध था। मकान, नालियां, गलियां, सड़कें और बाज़ार बड़े तरीके से बने हैं। हड़प्पा से मिली मिट्टी की मुहरों तथा उनके ऊपर की तसवीरों से पता चलता है कि वहां पहले वर्षा बहुत होती थी। यह भी पता मिलता है कि सिन्ध नदी के पूर्व में एक और नदी बहती थी, जो अब लुप्त हो गई है। आधी जली हड्डियों से पता चलता है कि तब मछली, कछुआ, घड़ियाल, बकरी और सूअर का मांस खाया जाता था।

पुरुष एक धोती पहनते थे। ऊपर दुपट्टा या दुशाला ओढ़ते थे। बालों को माथे से पीछे ले जाकर चोटी बनाते थे। स्त्रियों में गहने

पहनने की बड़ी चाल थी। सवारी के लिए अमीरों के पास गाड़ियां थीं। इनमें दो पहिये, ऊपर छत, आगे हांकने वाले का स्थान होता था। यह संसार में सबसे पुराना गाड़ी का ढांचा है। रहने के मकान बहुत अच्छे हैं। एक मकान १६८ फुट लम्बा और १३६ फुट चौड़ा है। इसमें दोनों ओर समकोण कमरे और दालान हैं। बीच में हाल है। यह भूमध्य सागर के क्रीट टापू के पुराने मकानों से मिलता है। स्नानागार बहुत अच्छे बने हैं। तालाब बहुत हैं। हथियार तांबे के बनाये जाते थे। मोहन-जो-दड़ो में बाट भी मिले हैं, जो उस समय के व्यापार का पता देते हैं।

मुहरों पर जगदम्बा की मूर्ति से पता चलता है कि उन दिनों प्रकृति या शक्ति की उपासना होती थी। एक मुद्रा पर योगाभ्यास-निरत देवता का अंक चित्रित है। इसके दोनों ओर हाथी, चीता, गैंडा और भैंसा बने हुए हैं। बहुत सम्भव है कि यह शिव के पशुपति भाव की मूर्ति हो। इससे शिवोपासना का पता चलता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि पश्चिमी एशिया से सिन्ध-कोठ तक एक ही सभ्यता फैली हुई थी। हड़प्पा, मोहन-जो-दड़ो, बिलोचिस्तान, सुमेर (प्राचीन ईराक़) तथा इसके आसपास के खंडहरों में बड़ी समानता है। मालूम पड़ता है कि बीच में रेगिस्तान न होने से पश्चिमी एशिया तथा भारत में यातायात खूब होता था।

सौभाग्यवश ईराक़ में दो मुहरें ऐसी मिली हैं जो हड़प्पा और मोहन-जो-दड़ो की मोहरों से मिलती हैं। ये मुहरें निश्चित रूप से वहां के राजा 'सारगोन' से प्राचीन हैं। सारगोन का समय ई० पू० २७५० है। इससे यह सिद्ध होता है कि सिन्ध-कोठ की सभ्यता कम-से-कम ई० पू० ३००० वर्ष की है; अर्थात् वर्तमान से ५००० वर्ष पहले की है।

तक्षशिला

रावलपिंडी से पश्चिम में २० मील की दूरी पर सरायकाला नाम का स्टेशन है। इसके बहुत निकट तक्षशिला है। स्टेशन को भी

टैक्सिला (Taxila) स्टेशन कहा जाता है। यह स्थान पहाड़ों से घिरी हरियाली भूमि में बड़ा रमणीक है। वहां पर पहले एक बहुत बड़ा टीला था। सन् १९१२ में इसकी खुदाई शुरू हुई और यहां तीन नगर निकले। मालूम पड़ता है कि विदेशी आक्रमणों से तंग आकर पहला नगर छोड़ दूसरा बसाया गया। दूसरे पर भी दबाव पड़ने से तीसरा बसाया गया। इन तीन नगरों के नाम मीरमन्द, सिरकप तथा सिरमुख हैं।

मीरमन्द—मीरमन्द सबसे पुराना है। यह मौर्य राज्य में उत्तर भारत की राजधानी रहा था। यहां की इमारतें आश्चर्य-जनक हैं। कुछ तो ज्यों-की-त्यों खड़ी हुई ऐसी मालूम पड़ती हैं कि मानो अभी बनी हों। जगह-जगह पर बुद्ध भगवान् की मूर्तियां हैं।

सिरकप—मीरमन्द से आधा मील दूर सिरकप है। ई० पू० दूसरी शताब्दी में यूनानी आक्रमणों से मीरमन्द नष्ट-भ्रष्ट कर दिया गया तो उन्होंने सिरकप को बसाया। इसके चारों ओर दीवार पर कुछ-कुछ दूरी पर २० और ३० फुट ऊंचे किले बने हैं। यह नगर मीरमन्द से छोटा परन्तु वैसे बहुत बड़ा था। इसमें एक बड़े महल के खंडहर मिले हैं। इसके अतिरिक्त शहर के उत्तरीय दरवाजे की ओर इमारतों के कई ब्लॉक पाये गए हैं, जो प्रायः एक से हैं। बीच की गलियों से वे अलहदा होते हैं। यहीं तक्षशिला विश्व-विद्यालय की इमारतें थीं। यहां पर इसी के पार्थियन शासक आसेज प्रथम (२७ ई० पू०) का शिलालेख मिला है, जो खरोष्ट्री लिपि में लिखा है।

यह नगर कुशल वंश की राजधानी रहा था। बाद में कनिष्क ने पेशावर को अपनी राजधानी बना लिया, इससे इसका महत्त्व घट गया।

सिरमुख—तक्षशिला का तीसरा नगर 'सिरमुख' टीले पर नहीं बल्कि मैदान में बसा हुआ है। यहां कनिष्क (१२०—१२० ई०) की मुद्राएं मिली हैं। इससे पता लगता है कि स्यात यह नगर कनिष्क ने बसाया था।

अभी यहां बहुत-सा स्थल ऐसा पड़ा है जिसके खुदने पर और ऐतिहासिक सामग्री के पता चलने की आशा है ।

स्तूप—भगवान् बुद्ध के असली या नकली अवशेष रखकर या उनके जीवन या इतिहास के चिह्नों को रख कर उनका स्मरण करने के लिए एक प्रकार की समाधियां बनाई जाती थीं। यही स्तूप कहलाते थे, जो बर्मा में पैगोडा तथा नेपाल में चैत्य कहे जाते हैं। तक्षशिला में कई स्तूप मिले हैं; बहुत से टूटे-फूटे और कुछ पूरे। इनमें से तीन विशेष प्रसिद्ध हैं—(१) धर्मराज स्तूप, (२) कुणाल स्तूप, (३) बाल्हार स्तूप।

धर्मराज स्तूप—इस स्तूप का ऐतिहासिक महत्व बड़ा है। यह स्तूप भगवान् बुद्ध के शेषांगों (जलने से शेष बची हड्डियां—फूल) पर बनवाया गया है। इसमें पार्थियन शासक आसेज़ का शिलालेख मिला है, जिसकी लिपि खरोष्ठी और भाषा संस्कृत है। कुशाण वंश के राज्य-काल में एक विदेशी बौद्ध यात्री ने इसे लिखवाया था। वह यात्री बलख का निवासी था। इसके चारों ओर गान्धार शैली की अनेकों मूर्तियां खुदी हैं। कुछ मालाएं पहने हैं और कुछ बिना माला ही हैं। यह स्तूप २०० फुट ऊंचा है।

कुणाल स्तूप—यह सिरसुख नगर के बाहर पहाड़ी की ओर है। यह भी लगभग १०० फीट ऊंचा है। इसका सम्बन्ध महाराजा अशोक के सुपुत्र कुणाल से है। महाराज अशोक ने रानी पद्मा की मृत्यु के बाद उतरती आयु में तिष्यरक्षिता से विवाह किया था। वह कुमार कुणाल (पद्मा का पुत्र) की सुन्दर आंखों पर मुग्ध थी। निदान उसने अपनी कुवासना कुमार से प्रकट की। कुमार ने स्वीकार न किया और तिष्यरक्षिता उससे रुष्ट रहने लगी। एक बार तक्षशिला में प्रजा के विद्रोह को दबाने के लिए अशोक ने कुमार कुणाल को भेजा। कुणाल ने वहां शांति स्थापित की और अपने सद्व्यवहार से वह प्रजाप्रिय बन गया। इधर महाराज अशोक बीमार पड़े। तिष्यरक्षिता ने बड़ी सेवा की। प्रसन्न

होकर महाराज ने वर मांगने को कहा तो रानी ने सात दिन का राज्य मांग लिया, और वह उसे मिल गया। राज्य प्राप्त करके पहली आज्ञा उसने दंडपति के हाथ तक्षशिला को कुणाल के नाम जारी की कि उसकी दोनों आंखें निकाल ली जावें। कुणाल के पास आज्ञा-पत्र पहुँचने पर उसने आग्रह करके अपनी दोनों आंखें निकलवा दीं और अपनी स्त्री कांचनमाला के साथ राजधानी को चल पड़ा। राजा ने जब यह समाचार सुना तो बड़ा दुःख माना और तिष्यरक्षिता को जिंदा ही गड़वा दिया, और कुमार के पुत्र सम्प्रति को तक्षशिला का राजा बनाया। जिस स्थान पर कुणाल ने अपनी सुन्दर आंखें निकलवाई थीं वहां पर यह स्तूप बनाया गया है।

बाल्हार स्तूप—ह्व नसांग के अनुसार यह स्तूप महाराज अशोक का बनवाया हुआ है। बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार इसी स्थान पर भगवान् तथागत ने अपने सिर का बलिदान किया था। पर वास्तव में यह अशोक का बनवाया हुआ नहीं मालूम पड़ता, क्योंकि इसमें उसके कोई चिह्न नहीं। यह तीसरी-चौथी सदी का-सा प्रतीत होता है। इसी स्थान पर एक विख्यात बौद्ध आचार्य कुमार लुब्ध ने अपने ग्रन्थ लिखे थे। इस स्थान पर सेवा करने से एक स्त्री का कुष्ठ भी ठीक हो गया था। यह स्तूप हारोनद से लगभग १०० फुट ऊंचा तक्षशिला से उत्तर की ओर है। यहां पर पहले बड़े-बड़े मेले लगते थे।

मूर्तियां—तक्षशिला में अनेकों मूर्तियां भी मिली हैं, जो कला की दृष्टि से बड़े महत्त्व की हैं। इन्हें देखकर मालूम पड़ता है कि उस समय भारतीय मूर्तिकला उन्नति के बहुत ऊंचे शिखर पर पहुँची थी।

मुद्राएं और सिक्के—तक्षशिला और उसके आसपास के स्थानों से जो सिक्के मिले हैं उनमें अधिकतर यूनानी, पार्थियन और शक शासकों के हैं। इनमें कनिष्क, हुविष्क और वासुदेव नाम के शासकों की बहुत मुद्राएं मिली हैं। इन मुद्राओं से ऐतिहासिकों को बहुत-सी सचाइयों का ज्ञान हुआ है।

बरतन और जेवर—तरह-तरह के मिट्टी और पत्थर के बरतन भी मिले हैं। सिरसुख की खुदाई में बरतन अधिक मिले हैं। धूप जलाने वाले बरतन सबसे छोटे और अन्न भरने के माट सबसे बड़े हैं। प्लेटें, गिलास, थालियां और कुण्डालियां भी पाई गई हैं।

खुदाई में सोने-चांदी के जेवर भी बहुत मिले हैं, जो कीमती होने के साथ-साथ देखने में बड़े सुन्दर हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से ये बहुत महत्वपूर्ण हैं।

संघाराम—तक्षशिला बौद्धों की संस्कृति का बड़ा केन्द्र रहा है। इसलिए संघाराम भी बने हुए हैं। इनमें बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणियां रहते थे।

विश्वविद्यालय—तक्षशिला की सबसे बड़ी विशेषता उसका विश्वविद्यालय था, जो उस समय सारे भारत में शिक्षा का बड़ा केन्द्र था। देश भर से पढ़ने के लिए यहां छात्र आते थे। अष्टाध्यायी के प्रसिद्ध लेखक पाणिनि और मौर्य साम्राज्य के निर्माता चाणक्य इस विद्यालय में आचार्य थे। राजा बिम्बसार के राजवैद्य 'जीवक' इसी की विभूति थे। वैशाली के राज-मन्त्री इसी की उपज थे। चन्द्रगुप्त मौर्य ने भी यहीं विद्याध्ययन किया था।

इस विद्यालय में धनी और निर्धन सभी प्रकार के बालक पढ़ते थे। धनियों को एक हजार कार्षापण (उस समय का सिक्का) देने पड़ते थे। निर्धन को दिन में गुरु-गृह में सेवा करनी पड़ती थी। सेवा करना जिन्हें नहीं रुचता था वे शिक्षा-समाप्ति पर अपना शुल्क देने की प्रतिज्ञा करते थे। आचार्यों और छात्रों का पिता-पुत्र का-सा सम्बन्ध था। आचार-निरीक्षण पर बड़ा बल दिया जाता था।

तक्षशिला विश्वविद्यालय में निम्नलिखित विद्यालय थे:—

१. वैदिक महाविद्यालय में वेद के अंगों की प्रधानतया शिक्षा दी जाती थी। इनमें व्याकरण प्रधान था।

२. अष्टादश विद्या महाविद्यालय में चारों वेदों और उसके छहों

अंगों के अतिरिक्त मीमांसा, न्याय, धर्म-शास्त्र, पुराण, धनुर्वेद आदि पढ़ाये जाते थे।

३. शिल्प-विज्ञान महाविद्यालय में शिल्प और विज्ञान के सिद्धांतों की शिक्षा होती थी।

४. सैनिक महाविद्यालय में सैन्य-संचालन की कला सिखाई जाती थी। इसमें बहुत से राजकुमार शिक्षा पाते थे।

५. ज्योतिष महाविद्यालय में खगोल, भूगोल, नक्षत्रविद्या, गणित, हस्तरेखा आदि पाठ्य विषय थे।

६. तंत्र महाविद्यालय मे तंत्र (Magic) की शिक्षा दी जाती थी।

७. आयुर्वेद महाविद्यालय सबसे बड़ा महाविद्यालय था। सारे देश के विद्यार्थी यहाँ पढ़ने के लिए आते थे। चूंकि यह विद्या बड़े उत्तरदायित्व की है, इस विद्या को पूर्ण करके ही यहां से जाने दिया जाता था। इसके पढ़े वैद्यों की बौद्ध ग्रंथों में बड़ी प्रशंसा मिलती है।

बाद में शकों और हूणों के आक्रमणों से तक्षशिला विश्व विद्यालय नष्ट-भ्रष्ट हो गया। ईस्वी सन् ४०० में फाहियान ने इसका सूक्ष्म विवरण दिया है।

नालन्दा

यह स्थान मगध की प्राचीन राजधानी राजगृह (राजगिर) से ५ मील पर है। आजकल यह पटना जिले की विहार नामक तहसील के अन्तर्गत है। ईस्ट इण्डियन रेलवे की बड़ी लाइन पर बख्तियारपुर जंक्शन से एक छोटी लाइन विहार शरीफ होकर दीपनगर जाती है। इसी लाइन पर विहार और राजगिरि के बीच का स्टेशन नालन्दा है। इस स्टेशन से लगभग १ कोस की दूरी पर बड़गांव नाम की एक छोटी-सी बस्ती है। पहले यहीं पर नालन्दा का विश्वविद्यालय था।

पहले यहां १९ वीं सदी के अन्त में मामूली खुदाई हुई। बाद में

सन् १६१२ में फिर खुदाई शुरू हुई और कुछ चीजें मिलीं। अनुमान है कि अभी बहुत-सी ऐतिहासिक सामग्री वहां भूगर्भ में पड़ी है।

नालन्दा में दीवारों से घिरे हुए कई आंगन थे, जो आजकल के आंगनों से भिन्न थे। दीवारें, जो अब टूटी-फूटी हैं, इतनी चौड़ी हैं कि एक साथ तीन आदमी उस पर चल सकते हैं। अनेकों आक्रमणों से इसका स्वरूप बिगड़ गया है।

एक दूसरे आंगन में महान् स्तूप मिला है। यह बहुत ऊंचा है और पहाड़ी-सा मालूम पड़ता है। इसमें अनेकों मूर्तियां हैं, पर विदेशियों ने इन्हें जीर्ण-शीर्ण कर दिया था। स्तूप के शिखर पर एक छोटा मन्दिर और एक मूर्ति पाई गई है। प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता जनरल कनिंघम का निश्चय है कि भगवान् बुद्ध यहां बीस मास तक रहे थे।

यहां बहुत से बरतन, आभूषण, हथियार, शिलालेख तथा मूर्तियां मिली हैं। इन सबके विषय में शिल्प-विशेषज्ञों का निर्णय है कि यहां की शिल्प-कला भारत में सबसे उत्तम है। नालन्दा के कुएं आजकल के कुओं से भिन्न हैं। गोल होने के बजाय वे अठपहलू हैं।

विश्वविद्यालय—चौथी शताब्दी का यात्री फाहियान नालन्दा के विश्वविद्यालय का ज़िक्र अपनी पुस्तक में नहीं करता। पर सातवीं सदी का चीनी यात्री ह्व नसाङ्ग लिखता है कि यह विश्वविद्यालय बुद्ध के निर्वाण के थोड़े दिन बाद ही शुक्रादित्य नामक राजा ने बनवाया था और यह ७०० वर्षों से स्थित है। इन दोनों बातों को साथ मिलाकर यह निर्णय किया जा सकता है कि इसकी स्थापना तो पहले ही हो चुकी थी, पर यह प्रसिद्ध हुआ था ५ वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में।

ह्व नसांग ने इसकी बड़ी प्रशंसा लिखी है। वह इसमें प्रविष्ट होकर पढ़ता भी रहा था। इससे उसका वर्णन विश्वसनीय है और वह खण्डहरों की साक्षी से मिलता भी है। उसका संक्षेप यह है:—

"इसमें १०,००० विद्यार्थी निवास करते थे। चारों ओर चार

कोनों वाली और बड़ी-बड़ी ८ दीवारें और पर्वत शिखर के सदृश नुकीले और ऊंचे-ऊंचे चौमञ्जले मठ थे। आकाश से बातें करते हुए इसके बुर्ज और कंगूरे ऐसे जान पड़ते थे मानो प्रातःकाल के कुहरे में विलीन होगए हों। भवन की खिड़कियां इतनी ऊंची थीं कि वहां से मेघ-राशियों की गति स्पष्ट दीख पड़ती थी। इसमें अन्दर भिन्न-भिन्न चमकीले रंगों से रंगी हुई, शिल्पकारी से सुशोभित कोठरियाँ थीं। इसकी ऊंची छतों से सूर्य और चन्द्रमा मिलते हुए प्रतीत होते थे। छायादार कुंज और उपवन, निर्मल जल से भरे हुए ताल और उनमें खिले नील कमल, लाल-लाल कलियों से लदे कनक-वृक्ष और काली-काली पत्तियों से ढके हुए आम के पेड़ों के नीचे रमणीक स्थानों को देखकर मुझे (ह्वेनसांग को) आनन्द प्राप्त होता था।

"बाहरी ओसारे पर चार मंजिलें थीं। चित्रित और आभूषित मोतियों के सदृश लाल-लाल खम्भे और सुसज्जित कटहरे लगे थे।"

इत्सिंग, जो ७ वीं शताब्दी के अन्त में आया था, लिखता है कि "इसमें ८ बड़े-बड़े हाल कमरे थे और ३००० कोठरियाँ थीं। छात्रों से पढ़ाई, भोजन, निवास आदि के लिए कुछ भी शुल्क नहीं लिया जाता था।" ह्वेनसांग कहता है कि "मुझे प्रतिदिन १२० जम्बीर, २० जायफल, २० खजूर, १ औंस कपूर, ऽ। सुगन्ध महाशाली धान के चावल, मक्खन और मास में तीन राशि तेल मिला करते थे।"

विश्वविद्यालय का व्यय उस समय के विद्याप्रेमी राजाओं द्वारा लगाए गये गांवों तथा दान से चलता था। वहां की प्रवेशिका परीक्षा बड़ी कठिन थी। अध्यापकों की संख्या १००० थी। इसका प्रबन्ध बड़ा संतोषजनक था। समय की पाबन्दी पर बड़ा जोर था। शील-भद्र यहां के प्रधान आचार्य थे। इनके अतिरिक्त विश्वविद्यालय के अन्य सदस्यों में धर्मपाल, चन्द्रपाल, गुणमति, प्रभामित्र, जिनमित्र, ज्ञानचन्द्र, शीघ्रबुद्ध आदि थे। तिब्बत के लामा सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक पद्मसम्भव भी इसी के स्नातक थे। यहां का पुस्तकालय नौमंजिला था।

अब यहां खंडहरों के सिवाय कुछ नहीं है; पर ये खण्डहर ही भारत के अतीत उत्कर्ष को ऊंची आवाज से सुनाते-से प्रतीत होते हैं।

सारनाथ

सारनाथ का प्राचीन नाम मृगदाव था। यह स्थान बनारस के बहुत निकट है। बनारस छावनी या सिटी स्टेशन से बी. एन. डब्ल्यू. रेलवे की गाड़ी सारनाथ को जाती है। अलईपुर के बाद सारनाथ का स्टेशन है। इसी के पास सारनाथ गांव है। इसकी हालत अब सुधर रही है। यहां कई मकान बने हैं, जिनमें महाबोधि शिक्षालय, खैराती हस्पताल, राजा बलदेवदास बिड़ला द्वारा बनाई एक सुन्दर धर्मशाला, मूलगन्ध कुटी विहार पुस्तकालय, जैन धर्मशाला और अजायबघर हैं।

धार्मिक महत्त्व—भगवान् बुद्ध के जीवन-चरित्र से चार स्थानों का विशेष सम्बन्ध है—लुम्बिनिग्राम, बोधगया, सारनाथ और कुशीनगर। लुम्बिनिग्राम में बुद्ध ने जन्म पाया, गया में तपस्या की, सारनाथ में सबसे पहले धर्मोपदेश दिए और कुशीनगर में मृत्यु हुई। सारनाथ में सबसे पूर्व उन्होंने अपने शिष्यों को यह उपदेश दिया था—

"भिक्षुओ! सांसारिक भोगों में लिपटा नहीं रहना चाहिए और मन को पवित्र करने तथा मुक्ति प्राप्त करने के लिए शरीर को अतिशय तपाना भी नहीं चाहिए। मैंने दोनों के बीच का रास्ता खोज निकाला है—उचित वचन बोलना, उचित कर्त्तव्य करना, उचित दृष्टि रखना, उचित संकल्प करना, उचित रीति से अपनी जीविका चलाना, उचित व्यायाम करना, उचित स्मृति रखना, उचित समाधि लगाना।" इसी उपदेश को बौद्ध ग्रन्थों में धर्मचक्र-प्रवर्तन कहते हैं।

खुदाई—काशीनरेश के दीवान जगतसिंह ने जगतगंज बस्ती बनाने के लिए सारनाथ के एक स्तूप का बहुत-सा मसाला खोद लिया।

उस स्तूप में एक बुद्ध की मूर्ति भी मिली। उसको देखकर वहां के डिप्टी कमिश्नर ने बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी को इसकी सूचना दी। तभी से प्राचीन बौद्ध स्थान के नाम से यह प्रसिद्ध हुआ। इससे पूर्व इसे इस रूप में कोई नहीं जानता था। कनिंघम साहब ने फिर खुदाई कराई ; जिसमें बहुत-सी मूर्तियां मिलीं। वे सब कलकत्ता के अजायबघर में हैं। इसके बाद फिर खुदाई हुई, जिसमें अशोक-स्तम्भ, इसका सिंहशिखर आदि मिले।

दीवान जगतसिंह द्वारा नष्ट किये गए स्तूप का नाम 'धर्मराज का स्तूप' है। इस समय यह मुख्य स्तूप चिह्न-मात्र रह गया है। जमीन से १८ हाथ नीचे दो पात्र, एक पत्थर का तथा दूसरा संगमरमर का, मिले हैं। उनमें कुछ हड्डियां, कुछ मोती तथा कुछ सोना मिला। इसी स्तूप से उत्तर की ओर प्रधान मन्दिर का अवशेष है। इसकी दीवारें व छत तक ज्यों-की-त्यों खड़ी हैं। सामने आगे-पीछे करके दो बड़े दालानों का चिह्न है। आगे के हाल में बौद्ध भिक्षु तथा पीछे वाले में गृहस्थी लोग पूजा किया करते थे।

दूसरा स्तूप 'धमेख स्तूप' है। इसकी दशा अच्छी है। यह बहुत ऊंचा और बिलकुल ठोस है। इसके पास ही प्राचीन काल के मठ भी मिले हैं। यहीं पर एक प्राचीन बौद्ध की समाधि मिली है। एक पत्थर की शिला में कटी हुई, बिना किसी जोड़ की, सीढ़ियाँ हैं जो बिलकुल नई मालूम पड़ती हैं।

जिस स्थान पर भगवान् बुद्ध ने पूर्व जन्म में छः दांतों वाले हाथी का शरीर धारण किया था और जहां भगवान् अपने पांच शिष्यों को मिले थे, वहां अब तक एक भग्नस्तूप उन घटनाओं की याद दिलाने के लिए खड़ा है।

इस स्थान से प्राप्त अवशेषों में सबसे प्राचीन अशोक-स्तम्भ का सिंह-शिखर है। इस शिखर में सिंह की त्रिमुखी मूर्ति है। इन पर अब

भी बड़ा सुन्दर पालिश है, जिससे मालूम पड़ता है कि स्तम्भ का पालिश भी बेजोड़ था। इस अशोक-स्तम्भ पर प्राकृत भाषा में और ब्राह्मी लिपि में ये बातें लिखी हैं :—

"देवताओं के प्रियदर्शी राजा अशोक ऐसा कहते हैं कि पाटलिपुत्र तथा अन्य प्रान्तों में कोई भी संघ में फूट न डाले। जो कोई, चाहे वह भिक्षु हो या भिक्षुणी, संघ में फूट डालेगा वह सफेद कपड़ा पहनाकर संघ से पृथक् कर दिया जायेगा। जहां-जहां आप लोगों का अधिकार (साम्राज्य) हो वहां-वहां आप लोग सर्वत्र इस आज्ञा के अनुसार प्रचार करें।"

सारनाथ में सरकार की तरफ से अब एक अजायबघर भी है, जिसमें वहां की प्राप्त सारी वस्तुएं इकट्ठी कर दी गई हैं।

ऊपर हमने चार ऐसे स्थानों का वर्णन किया है जो भारतवर्ष की अतीत सभ्यता के केन्द्र बने रहे। इसी प्रकार के अन्य भी बहुत से स्थान हैं जिन सबका स्थानाभाव से यहां वर्णन देना संभव नहीं है। इनमें राजगृह (राजगिरि), वैशाली, कुशीनगर, पाटलिपुत्र महत्वपूर्ण हैं; इनका हम सूक्ष्मतया परिचय मात्र देंगे।

राजगिरि

यह स्थान विहार प्रान्त के पटना जिले का एक ग्राम है। पूर्व, पश्चिम और दक्षिण में पहाड़ियों से घिरा है। यह ख्याल है कि आज से लगभग ३००० वर्ष पूर्व जरासंध ने इसे बसाया था और अपनी राजधानी बनाया था। महाभारत में इसी को गिरि-व्रज कहा है। यहां के मनुष्य अभी तक इसके किले को जरासंध का किला कहते हैं। बाद में शिशुनाग वंश के राजाओं के काल में इसका नाम राजगृह पड़ा। इसके बाद बहुत दिनों तक राजगृह मगध साम्राज्य की राजधानी रहा। ई० पू० लगभग ४०० वर्ष में शिशुनाग वंश के राजा उदयी ने अपनी राजधानी पाटलिपुत्र में बनाई।

धार्मिक दृष्टि से भी इसका बड़ा महत्त्व है। यह ई० पू० ६०० वर्ष से ही बौद्ध धर्म के प्रचार का केन्द्र बना रहा है। जैन धर्म के प्रवर्त्तक महावीर वर्धमान ने भी अपने धर्म-प्रचार का इसी को केन्द्र बनाया था। अब भी साल में एक बार देश भर के जैनियों का एक मेला यहाँ होता है। जरासंध और बिम्बसार के राज-प्रासाद पृथिवी के गर्भ में विलीन हो गए हैं। ह्वेनसांग के इसके विषय में वाक्य हैं—

"इस नगर के बाहर के प्राकार कुछ गिर गए हैं, पर नगर के भीतर के प्रासादों की दीवारें इस समय तक बच रही हैं। नगर २० ली (१ मील = ६-७ ली) के घेरे में था और उसका केवल एक द्वार था। इसके दक्षिण में बड़ी-बड़ी शिलाओं पर शिला-लेख हैं। वे अभी तक बांचे नहीं जा सके।"

इसकी दर्शनीय वस्तुएं निम्न हैं:—

१. अशोक की लाट, जो ६० फुट ऊंची है।

२. एक दूसरी लाट, जो पांच पर्वतों की घाटी के बीच में है परन्तु अब गिर गई है।

३. पर्वत की चोटी पर जैन-मन्दिर।

४. सोन भण्डार गुफा, जिसे पहला राज-कोष समझा जाता है। वर्षा-काल में लोगों को अब भी पुराने सिक्के मिल जाते हैं।

यहां ब्राह्मणों की आबादी अधिक है। कहते हैं कि जब अगस्त्य ने यज्ञ किया था तो ये लोग दक्षिणी महाराष्ट्र से आये थे; फिर यहीं रह गए। इस समय यह स्थान एक मुसलमान जमींदार के अधिकार में है।

वैशाली

लिच्छिवि लोग प्राचीन भारत की एक प्रसिद्ध क्षत्रिय जाति के थे। इनका निवास आधुनिक बिहार प्रान्त के उत्तर में था। बौद्ध साहित्य में इनका वर्णन मिलता है। उसके अनुसार इनके ७७०७ राजा थे। सबका

अभिषेक होता था और ये बड़े भू-भाग में फैले हुए थे। अपने-अपने प्रदेश का सब शासन करते थे। सबके राज्यों को मिलाकर एक लिच्छिवि राज्य कहलाता था। इन राज्यों में से ८ या ९ राजा चुने जाते थे। उनकी राज-परिषद् राज्य की सामूहिक समस्याओं पर विचार करती थी। अभियोग के लिए एक पोखरी थी। इस पर कड़ा पहरा रहता था। इस लिच्छिवि राज्य की राजधानी वैशाली थी। चन्द्रगुप्त प्रथम का विवाह लिच्छिवियों की कन्या से हुआ था और दहेज में सारा राज्य उसे मिला था। समुद्रगुप्त के सभी शिलालेखों में 'लिच्छिविदौहित्र' लिखा मिलता है। भगवान् बुद्ध तीन बार वैशाली आए थे।

प्राचीन समय में वैशाली तीन भागों में विभक्त था। वैशाली, जिसे अब बसाढ कहते हैं, बिहार के जिला मुजफ्फरपुर में है। दूसरा वणिक्ग्राम और तीसरा कोल्लगांव; इनके नाम अब क्रमशः "बनिया" और "कोल्हुआ" हैं। यहां अशोक का बनवाया हुआ एक स्तूप है। चीनी यात्री ह्वेनसांग लिखता है कि वैशाली के उत्तर-पश्चिम में अशोक का बनवाया हुआ ५०-६० फुट ऊंचा स्तम्भ है, जिस पर सिंह की मूर्ति बनी है। अब यह स्तम्भ सिर्फ २२ फुट ऊंचा रह गया है। सम्भव है, लाट का कुछ हिस्सा जमीन के अन्दर धंस गया हो। आसपास कई मीलों तक वैशाली के पुराने वैभव के ध्वंसावशेष दिखाई पड़ते हैं। जैन धर्म के प्रवर्त्तक महावीर का जन्म यहीं कोल्लगांव में हुआ था। सम्राट् अशोक, ह्वेनसांग, फाहियान आदि इन स्थानों के दर्शनों को आये थे।

सन् १९०४ में किले की खुदाई हुई तो पुराने मकानों की इमारतें, जो १६—१७ सौ वर्ष पुरानी हैं, निकलीं। कुछ मुहरें ४थी-५वीं सदी की निकली हैं। खुदाई के समय हड्डियां, राख, जली लकड़ियां भी पाई गईं, जिससे अनुमान होता है कि आततायियों ने इसे लूटा, जलाया और नष्ट कर दिया। बसाढ में एक तालाब का नाम बामन तालाब है। ऐसी किंवदन्ती है कि भगवान् वामन ने यहीं पर राजा बलि के अभिमान को चूर-चूर किया था।

पाटलिपुत्र और कुशीनगर

प्राचीन भारतीय सभ्यता का केन्द्र पाटलिपुत्र भी है। बहुत दिनों तक यह राज्य अनेक साम्राज्यों की राजधानी रहा है। परन्तु आक्रमणों के कारण इसके प्राचीनतम अवशेष नहीं बच सके। कुशीनगर में भगवान् बुद्ध का निर्वाण हुआ था।

दसवां भाग

संस्कृत साहित्य

हमारी सभ्यता का तात्पर्य हमारे पूर्वज सभ्यों की जीवनचर्या, उनके विचार और आदर्शों से है; और वे आदर्श, विचार और जीवन-चरित्र साहित्य में ही मिल सकते हैं। इसलिए यहां भारतीय साहित्य का सूक्ष्म परिचय दिया जाता है। वास्तव में किसी भी जाति की सभ्यता का दर्शन उसके साहित्य में ज्यों-का-त्यों हो जाता है। इसलिए उस देश के साहित्य का स्वरूप, परिमाण तथा उसमें आए हुए विचारों की ऊंचाई भली-भांति उस देश की असलियत बता देती है। इस परख से हम अपने प्राचीन साहित्य को देखें तो समस्त संसार में हमारा प्राचीन साहित्य अधिक है और उस समय की दृष्टि से ऊंचा भी सबसे अधिक है। यहां इसका कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है।

वेद

हमारे साहित्य का प्रारम्भ वेदों से है। पहले वेद एक ही था; बाद में उसे चार भागों में बांटा गया, जो (१) ऋग्वेद, (२) यजुर्वेद, (३) सामवेद, (४) अथर्ववेद बने। प्राचीन भारत में आदर्श तो यह था कि प्रत्येक बालक चारों वेद पढ़े। चारों न पढ़े जा सकें तो एक तो अवश्य पढ़ा जाता था।

एक-एक वेद के उच्चारण तथा मन्त्रों के कुछ ऐसे ही साधारण परिवर्तनों से कई शाखाएं बन गईं। महर्षि पतञ्जलि के शब्दों में ऋग्वेद २१ प्रकार का, यजुर्वेद १०१ शाखाओं वाला, अथर्ववेद ९ शाखाओं का और सामवेद एक सहस्र शाखाओं वाला था; परन्तु इस समय इतनी शाखाएं नहीं मिलतीं। एक-एक दो-दो शाखाएं ही मिलती हैं। प्रत्येक वेद का पृथक् ब्राह्मण ग्रन्थ होता है, जिसमें वेद के मन्त्रों का प्रयोग, उसका अर्थ, यज्ञ का वर्णन तथा अन्य आवश्यक बातें होती हैं। इन दोनों—संहिता तथा ब्राह्मण ग्रन्थ—को वेद नाम से कहते हैं। इसके बाद आरण्यक ग्रन्थ हैं, जो खुलती आयु में अरण्य में निवास करने वाले ऋषि-महर्षियों के विचार हैं। पांचवें उपनिषद् हैं, जिनमें आत्मा, परमात्मा, शरीर, संसार आदि तत्त्वों का चिन्तन है। इन सबको वैदिक साहित्य कहते हैं।

ऋग्वेद—इसकी एक शाखा इस समय उपलब्ध है। इसका नाम शाकल शाखा है। इसके प्रधानतः दस भाग (मण्डल) हैं। प्रत्येक मण्डल में सूक्तों का संग्रह है। सूक्त मन्त्रों के समुदाय का नाम है। पहले मण्डल में १९१ सूक्त हैं, दूसरे में ४३, तीसरे में ६२, चौथे में ५८, पांचवें में ८७, छठे में ७५, सातवें में १०४, आठवें में १०३, नवें में ११४ और दसवें में १९१। देखने की बात है कि आरम्भ तथा अन्त के मण्डलों के सूक्तों की संख्या समान है। कुल मिलाकर १०२८ सूक्त होते हैं। इनमें २१ सूक्तों पर, जिन्हें 'बालखिल्य' कहते हैं, न सायणाचार्य का भाष्य है और न शौनक ऋषि की आर्षानुक्रमणी में इनका उल्लेख है। इसलिए इन्हें बाद का प्रक्षिप्त समझा जाता है।

प्रत्येक सूक्त में किसी दिव्य ईश्वरीय विभूति की स्तुति है और इस स्तुति के साथ-साथ व्याजरूप से सृष्टि के अनेक रहस्यों तथा तत्त्वों का उद्‌घाटन है। ये मन्त्र पद्य में हैं। इनके छन्द सभी वैदिक हैं। यह संस्कृत तथा प्रचलित भाषाओं के छन्दों से बहुत कम मिलते हैं। लगभग ७६ देवताओं की स्तुति की गई है, जिनमें अग्नि, इन्द्र, वरुण,

वायु आदि प्रधान हैं। यज्ञों में देवताओं का आह्वान और स्तुति करने के लिए ऋग्-मन्त्रों का प्रयोग किया जाता है। ऋक् शब्द अर्च धातु से निकला है, जिसका अर्थ स्तुति करना है।

यजुर्वेद—इसके प्रधान दो भाग हैं, शुक्ल यजुर्वेद और कृष्ण यजुर्वेद। शुक्ल में ब्राह्मण पृथक् तथा संहिता पृथक् हैं। कृष्ण में दोनों सम्मिलित हैं। शुक्ल यजुर्वेद की काण्व तथा माध्यन्दिनी शाखाएं आजकल मिलती हैं। इन्हें वाजसनेयी भी कहते हैं। कृष्ण यजुर्वेद में काण्क, कपिष्ठल, कठ, मैत्रायणी तथा तैत्तिरीय शाखाएं मिलती हैं। दोनों प्रधान भेदों में (शुक्ल-कृष्ण) कहीं-कहीं पाठ और कहीं-कहीं उच्चारण के भेद हैं; मन्त्र वही हैं। गद्य और पद्य दोनों वेदों में वही हैं, परन्तु विषय-क्रम और उच्चारण के प्रभेद से शाखाओं का भेद हो गया है। सहूलियत की दृष्टि से वाजसनेयी शाखा का रूप दिया जाता है।

इसके ४० अध्याय हैं। इनमें प्रधानतया यज्ञों का विधान है। इन में अन्त के पंद्रह अध्याय बाद के मालूम पड़ते हैं, क्योंकि उनमें वे ही बातें हैं जो पहले २५ अध्यायों में वर्णित हैं। दर्शपौर्णमास, (अ०—१-२), अग्नि होम चातुर्मास्य (अ० ३), सोमयाग तथा इसका पश्वालम्भ (अ० ४-८), सोम प्रार्थना (अ० ६-१०), अग्निचयन (अ०—१२-१८), सौत्रायणी याग (अ० १६-२१) तथा अश्वमेध (अ० २२—२५) सम्पूर्ण संहिता के विषय हैं। अध्याय २६ से ३५ तक "खिल" समझे जाते हैं। बाकी के अध्यायों में कुछ में उपनिषदों और कुछ में सर्वमेध यज्ञ का वर्णन है।

यजुः शब्द यज् धातु से बना है, जिसका अर्थ यज्ञ करना है। इसीलिए यज्ञों में उपयुक्त मन्त्रों की यजुः संज्ञा है। इसलिए यजुर्वेद का पाठ-क्रम यज्ञों के अनुसार है।

सामवेद—साम शब्द का अर्थ गाना या ध्वनि (tune or melody) है—'गीतिषु सामाख्या'। जो मन्त्र भिन्न-भिन्न ध्वनियों

में गाए जाते थे उन्हीं के संग्रह का नाम सामवेद होगया। इसकी तीन शाखाएं मिलती हैं—१. कौथुमी शाखा (अधिकतर गुजरात में प्रचलित) २. जैमिनीय (कर्नाटक में प्रचलित) ३. रामायणीय (अधिकतर महाराष्ट्र में प्रचलित)। इसके दो विभाग हैं—पूर्वार्चिक तथा उत्तरार्चिक। पूर्वार्चिक में ध्वनियों के भेद के अनुसार मन्त्र-संग्रह है। उत्तरार्चिक में पूर्वार्चिक के ही उदाहरण स्वरूप स्तोत्र हैं, पर इनका क्रम यज्ञों का है। सामवेद के पूर्वार्चिक की तुलना उस गान पुस्तक से की जा सकती है जिसमें गाने का पहला पाद केवल ध्वनि के स्मरण के लिए संगृहीत हो। ऐसे पदों को योनि कहा जाता है। पूर्वार्चिक में ५८५ योनियां हैं। उत्तरार्चिक मे ४०० गान हैं। कुल मिलाकर १८१० मन्त्र हैं। इनमें से दुबारा बोले गए मन्त्र निकाल दिये जायँ तो १५४६ रह जाते हैं। सम्पूर्ण मन्त्र समुदाय में केवल ७५ मन्त्र ऐसे हैं जो ऋग्वेद के नहीं हैं। शायद ये भी पहली किसी शाखा के हों।

अथर्ववेद—अथर्ववेद ऊपर के वेदों से भिन्न है। इसमें यज्ञ-यागादि का वर्णन कम है और सांसारिक सिद्धियां अधिक वर्णित हैं। इसमें ऐसे मन्त्र भी बहुत हैं जो सर्प, बिच्छू आदि के विषादि को दूर करते हैं। अनेकों औषधियों के नाम और प्रभाव आलंकारिक रूप से वर्णित हैं। सात्विकता कम होने से पहले उसे वेद नहीं समझा जाता था। बाद में वह भावना हट गई। इसमें २० काण्ड हैं। ६००० के लगभग मन्त्र हैं। बीसवें काण्ड में सभी ऐसे मन्त्र हैं जो ऋग्वेद के हैं। वैसे भी इसके सम्पूर्ण मन्त्रों में अधिकांश भाग ऋग्वेद का है।

ब्राह्मण

पहले लिखा जा चुका है कि हर-एक वेद का कम-से-कम एक-एक पृथक् ब्राह्मण है। इन ब्राह्मणों का प्रधान विषय यज्ञ ही है। प्रसंगवश वर्णन में बहुत कुछ आजाता है। ब्राह्मण शब्द के अर्थ 'ब्रह्मन्' के कहे गए नियम हैं। यज्ञों में जो ब्रह्मा की व्यवस्थाएं थीं वे ही ग्रंथ रूप में

ब्राह्मण बनीं। यहां ब्रह्मा से तात्पर्य सृष्टि-कर्त्ता से नहीं, बल्कि यज्ञों में उचित-अनुचित को देखने वाले विद्वान् से है।

ऋग्वेद के दो ब्राह्मण हैं—ऐतरेय ब्राह्मण और कौशीतकी ब्राह्मण। ऐतरेय ब्राह्मण में चालीस अध्याय हैं, जो आठ पंचिकाओं में बंटे हैं। कौशीतकी ब्राह्मण में तीस अध्याय हैं। सामवेद के ताण्ड्य महाब्राह्मण और पंचविंश ब्राह्मण है। इनमें पंचविंश ब्राह्मण सबसे पुराना प्रतीत होता है।

यजुर्वेद में शुक्ल का शतपथ ब्राह्मण सबसे बड़ा और महत्वपूर्ण ब्राह्मण है। इसका नाम शतपथ इसीलिए है कि इसमें १०० अध्याय हैं। कृष्ण यजुर्वेद में भी तैत्तिरीय ब्राह्मण है, जो तैत्तिरीय संहिता के ही सिलसिले की चीज है।

अथर्ववेद का गोपथ ब्राह्मण ही प्रसिद्ध है। इसमें पूर्व और उत्तर दो खंड हैं। सारा ग्रन्थ ग्यारह प्रपाठकों में विभक्त है।

ब्राह्मणों में ही प्रायः आरण्यक ग्रन्थ होते हैं। उन्हीं में उपनिषदें भी हैं। कुछ उपनिषदें पृथक् भी हैं। विस्तार के कारण सबके नाम नहीं दिये जाते। इसी प्रकार कल्प-सूत्र भी हैं, जो हर एक संहिता के अलहदा-अलहदा हैं। इनमें उन्हीं विषयों का वर्णन है जो वेदों में पाया जाता है। इसलिए यह सब वैदिक साहित्य माना जाता है।

उपवेद

वेदों के साथ सम्बद्ध उपवेद भी हैं। इनका साहित्य कुछ उपलब्ध है, कुछ नहीं। यजुर्वेद का उपवेद धनुर्वेद है। साम का उपवेद गन्धर्व-वेद है। आयुर्वेद चरणव्यूह के अनुसार ऋक् का उपवेद है। तुन्र चरकादि इसे अथर्ववेद का उपवेद मानते हैं, क्योंकि अथर्व में औषधियां व रोग अधिकता से वर्णित हैं।

अथर्ववेद का उपवेद अर्थवेद है, जिसमें कौटिलीय अर्थ-शास्त्र एक ग्रंथ मिलता है।

वेदांग

वेदों के अर्थ समझने के लिए छः अंगों की रचना हुई —१. व्याकरण २. निरुक्त ३. छन्द ४. ज्योतिष ५. शिक्षा ६. कल्प।

व्याकरण—हमारे देश का संस्कृत व्याकरण संसार की सभी भाषाओं के व्याकरणों से उत्तम है। इसके आद्याचार्य पाणिनि हैं और टीकाकार कात्यायन और पतञ्जलि। यह इतना विशुद्ध और नियमित है कि हजारों वर्षों के बाद भी आज इसी के बल पर हम लोग बोल-चाल की भाषा के समान संस्कृत को बोल सकते हैं। पाणिनि का प्रसिद्ध ग्रन्थ अष्टाध्यायी तथा पतञ्जलि का महाभाष्य है।

निरुक्त—वेद के मन्त्रों का शब्दार्थ के सहारे अर्थ करने का नाम निरुक्त है। इस पर यास्काचार्य का बड़ा सुन्दर विशाल ग्रन्थ मौजूद है। देवराज यज्वा का भी एक खण्डित ग्रन्थ मिलता है।

छन्द—वेद के छन्दों की तो पुस्तक कोई नहीं, लौकिक छन्दों के वृत्त-रत्नाकर आदि अनेक ग्रन्थ हैं।

ज्योतिष—इसमें फलित, गणित, भूगोल, खगोल विषयों पर अनेकों ग्रन्थ संस्कृत साहित्य में उपलब्ध हैं। इसका विवेचन हम आगे करेंगे।

शिक्षा—वेद-मन्त्रों के उच्चारण के तरीके आदि इसमें बताये जाते हैं। इस पर भी पाणिनि शिक्षा, याज्ञवल्क्य शिक्षा आदि कई ग्रंथ हैं।

कल्प—यज्ञ-क्रिया की सहायता के लिए कल्प-साहित्य की रचना हुई; जिनमें यज्ञ में की गई त्रुटियों के प्रायश्चित्तादि हैं। ये धर्म-सूत्र जिनमें घर के छोटे-छोटे कर्म वर्णित हैं, गृह्य-सूत्र, बड़े-बड़े श्रौत यागों को बताने वाले श्रौत-सूत्र, यज्ञ की वेदी व भूमि आदि का परीक्षण बताने वाले ग्रंथ शुल्व-सूत्र कहलाते हैं।

अब तक हमने वेद तथा उससे सम्बन्धित साहित्य को देखा; अब लौकिक इतिहास, काव्यादि को सूक्ष्मतया लिखा जाता है।

इतिहास

रामायण, महाभारत, राजतरंगिणी आदि अनेक ग्रन्थ हैं, पर वे कुछ काव्य तथा कुछ पुराणों की शैली में लिखे जाने से शुद्ध इतिहास ग्रंथ नहीं मालूम पड़ते। राजतरंगिणी ऐतिहासिक ढंग से ही लिखी गई है। यह काश्मीर के कविराज कल्हण की कृति है।

पुराण

पुराण अठारह हैं। इनके नाम ये हैं--१. मत्स्य २. मार्कण्डेय ३. भविष्य ४. भागवत ५. ब्रह्माण्ड ६. ब्रह्मवैवर्त ७. ब्राह्म ८. वामन ९. वराह १०. विष्णु ११. वायु १२. अग्नि १३. नारद १४. पद्म १५. लिंग १६. गरुड़ १७. कूर्म १८. स्कन्द।

इनके अतिरिक्त वैदिक धर्म के समान जैनों तथा बौद्धों के भी पुराण हैं।

काव्य

काव्यों की संख्या भी संस्कृत में बहुत है। काव्य दो प्रकार के होते हैं—सुने जाने वाले, देखे जाने वाले। दूसरे नाटक कहलाते हैं, शेष पहले। संस्कृत के बड़े-बड़े कवि हैं—कालीदास, अश्वघोष, भारवि, श्रीहर्ष, माघ, रत्नाकर, क्षेमेन्द्र, बिल्हण, कल्हण, भर्तृहरि, जयदेव, पण्डितराज जगन्नाथ, सुबन्धु, बाण, दण्डी, विशाखदत्त, शूद्रक, भवभूति, राजशेखर आदि। इनमें बहुत से काव्य और दृश्य दोनों प्रकार के काव्य बनाने वाले हैं।

एक धारा काव्यों की आलोचना की चली। इसमें भी सैकड़ों उद्भट विद्वान् निकले। इनमें मम्मट, अभिनवगुप्त, दण्डी, क्षेमेन्द्र, विश्वनाथ, जगन्नाथ, भामह आदि के नाम शिखर पर हैं।

स्मृति-ग्रन्थ

इसी प्रकार स्मृति-ग्रन्थों में मनु की मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य की

याज्ञवल्क्य स्मृति तथा ऐसी ही अनेकों स्मृतियाँ हैं, जो हिन्दू आचार-शास्त्र हैं।

विज्ञान

वैज्ञानिक साहित्य भी संस्कृत में कम नहीं है। आयुर्वेद, ज्योतिष, संगीत आदि विषयों पर अनेकों ऐसी पुस्तकें हैं जिनके अनुवाद पहली दूसरी शताब्दी से ही विदेशों में होने लगे थे।

नीति

राजनीति आदि विषयों पर भी कौटिलीय अर्थ-शास्त्र, कामन्दक नीति-शास्त्र आदि अनेकों ग्रन्थ-रत्न अब भी उपलब्ध हैं।

ग्यारहवां भाग

भारतीय शिक्षण-पद्धति

वैदिक काल

हमारी संस्कृति और सभ्यता का इतिहास जब से प्रारम्भ होता है, वेदों में इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि पहले संगठित शिक्षा दी जाती थी। ऋग्वेद के एक मन्त्र में बहुत से पढ़ने वाले छोटे-छोटे बालकों की उपमा दी गई है। इससे मालूम होता है कि समुदाय रूप में गुरु लोग छोटे-छोटे बालकों को पढ़ाते थे। ब्रह्मचारी अग्निहोत्र करते समय जब अग्नि में समिधा डालता है तो कहता है कि मेरे आचार्य के पुत्र जीते रहें। यह भी शिक्षा-संस्थाओं की स्थिति पर ही प्रकाश डालता है। अथर्ववेद ६।२ में ब्रह्मचारी के पठन-पाठन की बड़ी महिमा गाई गई है। शतपथ ब्राह्मण ११। ५७। १ में कहा है कि वेद के पढ़ने और पढ़ाने से सुख, स्वाधीनता, धन, बुद्धि, यश इत्यादि सब कुछ मिलते हैं। छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषदों से मालूम होता है कि बहुत से ब्राह्मण अपने पुत्रों को घर पर ही पढ़ाते थे। बहुत से गुरु-गृह में जाकर पढ़ते थे। इतना ही नहीं, छान्दोग्य की सनत्कुमार तथा नारद की बातों से पता चलता है कि ज्ञान की अनेकों शाखाएं संगठित रूप से पढ़ी-पढ़ाई जाती थीं। कहीं-कहीं पर अनिवार्य शिक्षा

भी थी। छान्दोग्य में अश्वपति कैकेय कहते हैं कि मेरे राज्य में अपढ़ व्यक्ति कोई नहीं है।

बौद्ध-काल

बौद्ध-काल में तो शिक्षा-केन्द्रों के बड़े ऊंचे संगठन का पता चलता है। तक्षशिला में सात महाविद्यालय थे और प्रत्येक में २०० तक छात्र रहते थे।

सशुल्क और निःशुल्क दोनों प्रकार की शिक्षा दी जाती थी। शुल्क इस प्रकार नहीं लिया जाता था जैसे आजकल मासिक रूप में लिया जाता है। एक बार ही लेते थे।

पद्धति

भारतीय शिक्षण-पद्धति में इस बात पर शुरू से ध्यान दिया जाता था कि विद्या का पात्र योग्य होना चाहिए। इसीलिये शिक्षा-प्रारम्भ के भी नियम होते थे और आयु भी निश्चित होती थी। आठ से बारह तक का बालक गुरु के पास ले जाया जाता था। गुरु उससे तरह-तरह के प्रश्न पूछते थे, जिनमें उसके गोत्र, कुल, पिता का नाम आदि भी होते थे। पूछने के बाद उसे वे अपना शिष्य बना लेते थे। शिष्य दो प्रकार के होते थे। एक वे जो निरन्तर गुरु के गृह में ही रहते थे। गुरु के जीवन के साथ उनका जीवन भी मिल जाता था। वे गुरु की शिक्षा व आचार सभी सीखते थे। वे अन्तेवासी कहलाते थे। दूसरे साधारण विद्यार्थी होते थे, जो केवल विद्या पढ़ने आते थे। ऐसे विद्यार्थी बड़ी आयु के अधिक होते थे। वे अपनी ऊंची ज्ञान-पिपासा बुझाने विशेषज्ञों के पास जाते थे। ये लोग समिधाएं लेकर गुरु के पास जाते थे और अपनी नम्रता प्रकट कर अपने प्रश्न करते थे। समिधाएं ले जाने का भाव शायद गुरु की सेवा और अग्निहोत्र व्रत का पालन था। दोनों प्रकार के बालकों को आश्रमों के सब प्रकार के कार्य करने पड़ते थे। उन दिनों शिष्य गुरु की सेवा बहुत करते थे।

फीस

अधिकतर तो ऐसे ही विद्यालय थे जहां पर फीस नहीं ली जाती थी। पढ़ने का प्रकार सादा होता था। उसमें गुरु लोग अपने मुख से पढ़ाते थे, छात्र याद करते थे। इसलिए इसमें अधिक व्यय की आवश्यकता नहीं थी। खाने-पीने की वस्तुएं या तो छात्र आप पैदा करते थे या भिक्षा कर लेते थे। इस प्रकार काम चल जाता था। कुछ बड़े-बड़े विश्वविद्यालयों में—जैसे तक्षशिला, नालन्दा, पाटलिपुत्र आदि में—फीस भी ली जाती थी। पर वह प्रवेश के समय ही ले लेते थे। जो बिना फीस पढ़ते थे वे लोग विद्या-समाप्ति के समय स्नातक होकर गुरु-दक्षिणा में बहुत सा धन भेंट चढ़ाते थे।

स्थान

गुरुकुलों के स्थान आम तौर से या तो जंगलों में होते थे या नगरों से दूर। पढ़ने वाले ब्रह्मचारियों को भी जल्दी-जल्दी घर जाने की आज्ञा नहीं होती थी। वे विद्या-समाप्ति तक निरन्तर वहीं रहते थे। समय-समय पर उनके माता-पिता अपने बालकों को आश्रमों में ही देख आते थे। ये नियम गरीब-अमीर सभी पर लागू थे।

स्त्री-शिक्षा

स्त्रियाँ भी पुरुषों की तरह पढ़ती थीं। बहुत से वेद-मंत्रों की ऋषि भी स्त्रियाँ हैं। उपनिषदों में बहुत-सी स्त्रियों के अध्यात्म-विद्या पर विवाद सुनाई पड़ते हैं। छठी-सातवीं शताब्दी तक भी परम विदुषी स्त्रियाँ देश में विद्यमान थीं। आचार्य शंकर के मण्डनमिश्र के साथ होने वाले शास्त्रार्थ की अध्यक्षा मण्डनमिश्र की धर्मपत्नी थीं। वात्स्यायन ने अपने कामशास्त्र में बालिकाओं के शिक्षण में अनेकों विषयों का, जिनमें ललित कलाएं प्रधान हैं, उल्लेख किया है। भवभूति ने भी अपने नाटक उत्तररामचरित में गुरुकुलों में कन्याओं के पढ़ने का

जिक्र किया है। स्मृतियों के समय इस पर पाबंदियाँ लगाई गई हैं, पर वे भी सर्वथा मान्य कभी नहीं रहीं।

गुरु-शिष्य सम्बन्ध

भारतीय शिक्षण-पद्धति में गुरु शिष्य का सम्बन्ध बड़ा मधुर रहा है। गुरु अपने शिष्यों को बेटे के समान और शिष्य गुरुओं को पिता के समान समझते थे। आज भी यह प्रथा है कि ज्ञान-सम्बन्धी हर बात में गुरु को नमस्कार किया जाता है। सभी ग्रन्थकारों ने अपने मंगलाचरणों में गुरु को प्रणाम किया है। अनेकों श्लोक गुरु-महिमा पर हैं। शिक्षा के सिद्धान्त से यह बहुत अच्छा है। पढ़ने वालों को अपने गुरुओं पर अवश्य श्रद्धा रखनी चाहिए।

विषय

भारतीय शिक्षा के विषय दो विभागों में बंटते हैं—'परा विद्या' और 'अपरा विद्या'। जिससे आत्मा-परमात्मा का ज्ञान हो वह परा विद्या है, शेष अपरा। गुरुकुलों में दोनों प्रकार की विद्याएं सिखाई जाती थीं। जिज्ञासु तथा तितिक्षु को परा विद्या का ज्ञान दिया जाता था। इसके इच्छुक विद्यार्थी की कड़ी परीक्षा होती थी। अपरा विद्या वर्ण और व्यवसाय के लिहाज से थी। विद्याध्ययन का समय भी वर्णों के लिहाज से घटा-बढ़ा था। ब्राह्मण बालक अधिक पढ़ते थे, क्षत्रिय और वैश्य कम। अपरा विद्याओं में जो जिसके योग्य होती थी, वही उसे पढ़ाई जाती थी। छान्दोग्य उपनिषद् में सनत्कुमार-नारद-संवाद में कुछ विद्याएं गिनाई हैं। जैसे—इतिहास, पुराण, व्याकरण, पित्र्य (श्राद्धादि), राशि, दैव, निधि (समयज्ञान), वाकोवाक्य (Dialogue), देवविद्या, ब्रह्म-विद्या, सर्पविद्या, देवजन विद्या आदि। इसी प्रकार का वर्णन बाण ने कादम्बरी में किया है, जो राजकुमार आश्रम से पढ़कर आया था।

विद्या-समाप्ति

विद्या-समाप्ति का बड़ा उत्सव मनाया जाता था। आज भी उसे

समावर्तन संस्कार के नाम से पुकारते हैं। ब्रह्मचर्य-जीवन के अवसान पर विद्यार्थी गृहस्थ-जीवन में प्रवेश करता था; इसलिए उसको वेद-मंत्रों से स्नान कराकर गृहस्थोपयोगी वस्त्र पहनाए जाते थे—जैसे छाता, जूता, कम्बल, लाठी आदि। ब्रह्मचर्यावस्था में यह चीजें नहीं प्रयुक्त की जाती थीं। अध्ययन की समाप्ति पर विद्यार्थी बड़ी-बड़ी गुरु-दक्षिणाएं देते थे। कालीदास ने कौत्स का इसी प्रकार का वर्णन रघुवंश में किया है। लोग देश-सेवा का व्रत भी दक्षिणा में गुरु की भेंट करते थे। गुरु सबको इकट्ठा अपना अन्तिम उपदेश देता था।

इसके बाद ब्रह्मचारी "स्नातक" (विद्या में स्नान किए हुए) कहलाते थे। तैत्तिरीयोपनिषद् में उपलब्ध आचार्य का एक दीक्षांत भाषण (Convocation speech) हिन्दी में ज्यों-का-त्यों उद्धृत किया जाता है :—

"वेदाध्ययन कराने के बाद आचार्य शिष्य को उपदेश देता है—सत्य बोल। धर्म का आचरण कर। स्वाध्याय से प्रमाद न कर। आचार्य के लिये अभीष्ट धन लाकर सन्तान-परम्परा का छेदन न कर। सत्य से प्रमाद नहीं करना चाहिए। धर्म से प्रमाद नहीं करना चाहिए। शुभ कर्म से प्रमाद नहीं करना चाहिए। ऐश्वर्य देने वाले मांगलिक कर्मों से प्रमाद नहीं करना चाहिए। स्वाध्याय और दूसरों को शिक्षा देने से प्रमाद नहीं करना चाहिए। देव-कार्य और पितृ-कार्य में प्रमाद नहीं करना चाहिए। तुम माता, पिता, आचार्य तथा अतिथि को देवता के समान समझना। जो अनिन्द्य कर्म हैं उन्हीं का सेवन करना चाहिए—दूसरों का नहीं। हमारे जो शुभ आचरण हैं, तुम्हें उन्हीं का अनुकरण करना चाहिए, दूसरों का नहीं। जो उत्तम ब्राह्मण हों उनका आसनादि से सत्कार करना चाहिए। श्रद्धापूर्वक देना चाहिए। अश्रद्धापूर्वक नहीं देना चाहिए। वित्त के अनुसार देना चाहिए। लज्जा से, भय से, मैत्री या ज्ञान से देना चाहिए। यदि तुम्हें किसी कार्य में संशय हो तो जो विचारशील अनुभवी सरल विद्वान् करें वैसा कर

आशा है। यही उपदेश है। यही वेदों का रहस्य है।"

भारतीय शिक्षण-पद्धति की विशेषताएं

१. आचार—हमारे देश की शिक्षा में आचार का स्थान बहुत ऊंचा है। विद्यार्थी के जीवन पर बड़ी कड़ी नज़र रखी जाती थी। 'आचार्य' शब्द का अर्थ ही आचार सिखाने वाला है। पुस्तक-ज्ञान के साथ-साथ आचरण की शिक्षा दी जाती थी।

२. ब्रह्मचर्य—शिक्षण-काल में ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कराया जाता था।

३. निःशुल्क शिक्षा—इस बात का ध्यान रखा जाता था कि शिक्षा-काल में विद्यार्थी धन-चिंता में मग्न न हों। इसलिए शिक्षा सादी और निःशुल्क रखी गई।

४. समता—शिक्षा-काल में गरीब-अमीर सब एक-से रहते थे। अमीर अधिक व्यय नहीं कर सकते थे। सबको समान परिश्रम करना पड़ता था।

५. कुटुम्ब से सम्बन्ध-विच्छेद—अध्ययन काल तक बालक को घर नहीं भेजा जाता था। यह ध्यान रखा जाता था कि आश्रम के वातावरण में ही उसे रखा जावे, ताकि शिक्षा के संस्कार दृढ़ हो जावें।

६. देश-सेवा—छात्रावस्था में हर एक को भिक्षा मांगनी पड़ती थी, जिससे ब्रह्मचारी अपने को समाज से उपकृत समझ सके। शिक्षा-समाप्ति पर फिर देश-सेवा का उपदेश दिया जाता था। इसलिए यथासम्भव सभी देश, धर्म और जाति की सेवा करते थे।

बारहवां भाग

हमारी कला

कलात्मक विलास किसी जाति के भाग्य में सदा नहीं जुटता। उसके लिए ऐश्वर्य चाहिए, समृद्धि चाहिए, त्याग और भोग का सामर्थ्य चाहिए, और सबसे बढ़कर ऐसा पौरुष चाहिए जो सौन्दर्य और सुकुमारता की रक्षा कर सके। भारतवर्ष में एक ऐसा समय बीता है जब इस देश के निवासियों के प्रत्येक कण में जीवन था, पौरुष था, कौलीन्य-गर्व था तथा सुन्दरता के रक्षण, पोषण और सम्मान का सामर्थ्य था। इस प्रकरण में अतीत के इसी कलात्मक वैभव की कहानी कही जायगी।

प्रारम्भ से ही हमें अपने साहित्य और ध्वंसावशेषों में कला के दर्शन होते हैं। वेद-मंत्रों में काव्य-कला काफी स्फुट और बढ़ी हुई है। उषा का वर्णन ऋषि के सौन्दर्य-प्रेम और सहृदयता को स्पष्ट बताता है। उसमें अच्छी काव्य-कला है। ऋग्वेद के यमयमी सूक्त में भी वाकोवाक्य का बड़ा सुन्दर चित्र है। उसके अतिरिक्त मोहन-जो-दड़ो के ध्वंसावशेषों में भी कलाप्रियता कम नहीं है। हड़प्पा में शिव की प्रतिमा तथा उसके आस-पास पशुओं की मूर्तियां मूर्ति-कला के अच्छे उदाहरण हैं।

बौद्ध-काल

बौद्ध-काल में कई कलाओं ने चरम सीमा की उन्नति की। इनमें

मूर्ति-कला प्रधान थी। भगवान् बुद्ध के आकार, उनकी कृतियों और पहले जन्म की कथाओं को जीवित रखने के लिए बौद्ध श्रद्धालुओं के प्रयास आज भी उनके हृदय के साक्षी हैं। सारनाथ में अनेक स्तूप हैं। बड़े भी, छोटे भी। भूपाल-राज्य में सांची स्तूप, भहुंत का स्तूप तथा अन्य इसी प्रकार के स्मरण-चिन्ह ऊंची कला के प्रमाण हैं। सांची स्तूप के चारों दरवाजों पर अनेक चित्ताकर्षक मूर्तियां हैं। भहुंत स्तूप के दरवाजों, चौकियों और रेलों को तथा अमरावती के स्तूप को अनगिनत भिन्न-भिन्न सुन्दर चमत्कारी पत्थर के चित्रों, बौद्ध जीवन, इतिहास, साधारण जीवन और जानवरों से अंकित किया गया है। इनके बनाने वालों का पत्थर पर वैसा ही अधिकार था जैसा कि कवियों को भाषा पर और गायकों को आवाज पर होता है।

अशोक के स्तम्भ, जिन पर शिलालेख खुदे हुए हैं, भारतीय कला के सर्वोत्तम दृष्टान्तों में हैं। सारनाथ का स्तम्भ सात फीट ऊंचा है। चोटी पर चार शेर हैं। एक दूसरे की ओर पीठ किये खड़े हैं। बीच में धर्म-चक्र है। इस धर्म-चक्र में स्यात् ३२ तीलियां थीं।

इसके अतिरिक्त गुफाएं बनाने की अद्भुत कला भी इसी समय प्रादुर्भूत हुई। गया के १६ मील उत्तर बराबर नामक पहाड़ी पर अशोक की गुफा है। आगे चल कर इस कला में यह विकास हुआ कि उसमें मूर्त्तियां भी बनने लगीं। कार्ली गुफा १२४ फीट ३ इंच लम्बी, ४२ फीट ▮ इंच चौड़ी, ४२ फीट ऊंची है। इसके अन्दर-बाहर शेर, हाथी, स्त्रियों आदि की जो नक्काशी की गई है उसका वर्णन भाषा की शक्ति से बाहर है। यह सभी ने कहा है कि पत्थर की नक्काशी का ऐसा चमत्कार संसार में कहीं नहीं देखा गया।

इस समय की मूर्त्तियां भी यत्र-तत्र मिली हैं। कला की दृष्टि से ऊंची और अत्यन्त चित्ताकर्षक हैं।

मौर्य साम्राज्य के बाद

मौर्य साम्राज्य के बाद बाह्य संस्कृति ने भी जोर पकड़ा। जैनियों

में पूर्व से ही जागृति थी। तीनों धर्मों के अनुयायियों ने इस दिशा में बड़ी उन्नति की। रानी गुफा में पार्श्वनाथ का जुलूस पत्थर में अंकित है। उदयगिरि गुफा में ई० पू० २४ की एक छः फीट ऊंची स्त्री की मूर्ति है। मूर्ति की स्वाभाविकता चित्ताकर्षक है। मूर्तिकलामें इस समय बहुत उन्नति हुई। उन दिनों चार शैलियां प्रचलित थीं—गांधार, मथुरा, सारनाथ और अमरावती। गांधार शैली पर ग्रीक शैली का प्रभाव था। भाव-प्रवणता भारतवर्ष की तथा बाह्य सौन्दर्य ग्रीक शैली का, दोनों का सम्मिश्रण इतना चित्ताकर्षक बन गया था कि तुर्किस्तान, मंगोलिया, चीन, कोरिया तथा जापान तक वह फैल गई। गांधार मूर्तिकला के हजारों नमूने जमा हो चुके हैं। सबसे अच्छे कनिष्क युग के हैं। पत्थर में सारा जीवन अंकित है। वर्तमान मध्यप्रदेश में सुरगुजा रियासत में रामगढ़ पहाड़ी पर जोगीमारा गुफा में ई० पू० दूसरी सदी के कई चित्र हैं जो हिन्दू-चित्रकला के उत्कर्ष को बताते हैं।

गुप्त काल

गुप्त काल में धर्म और साहित्य के साथ-साथ कला का भी बड़ा भारी विकास हुआ। इस समय पत्थर के अलावा सोने, चांदी, तांबा, आदि का मूर्ति-कला में भी प्रयोग हुआ। भगवान् बुद्ध की साढ़े सात फीट ऊंची मूर्ति सुल्तानगंज में मिली थी। वह आजकल बर्मिंघम के अजायबघर में है। उसका आकार बड़ा स्वाभाविक है। चेहरे से करुणा, संयम और शान्ति टपकते हैं। एक अस्सी फीट ऊंची तांबे की मूर्ति भी इसी समय की मिली है।

स्तम्भ भी इसी समय बनाये गये। स्कन्दगुप्त का भीतरी स्तम्भ अभी खड़ा है।

इस काल की अजंता-गुफाओं में चित्र बहुत हैं। आकार की उत्तमता के अलावा इनमें भाव का प्रदर्शन बड़ी उत्तमता से किया गया है। इस समय चित्रकला शरीर के सौन्दर्य के प्रकाशन से बढ़कर आन्तरिक भावों

के प्रकट करने में लगी है। मानसिक अवस्था, शृंगार या वैराग्य, शांति या क्रोध, हर्ष या शोक, आह्लाद या निराशा, हर तरह से प्रकट करने का प्रयत्न है। बाहरी बातों पर उतना ध्यान नहीं दिया गया। अजन्ता गुफा नं० १२ में जो मुमूर्षु राजकुमारी का चित्र दिया है उसका सामना शायद् संसार का कोई चित्र नहीं कर सकता।

कला अधिकतर धर्म या आचार की सेवा करती थी। कुछ चित्र ऐसे भी हैं जो धर्म से असम्बद्ध साधारण जीवन को व्यक्त करते हैं।

सातवीं सदी तक भारतवर्ष में कला का प्रदर्शन जोरों पर रहा। नाट्य-कला, भवन-निर्माण-कला, मूर्ति-कला, चित्र-कला आदि अपने चरम उत्कर्ष तक पहुंच गई।

निजाम राज्य में एलोरा की गुफाओं में भी सातवीं सदी की बनी मूर्तियां उत्तम चमत्कार की हैं। कैलाश मन्दिर के लंकेश्वर विभाग में शिव का ताण्डव-नृत्य दिखाया गया है। भाव-प्रदर्शन के लिहाज से यह मूर्ति बड़े मार्के की है। नृत्य में शिव इतने मस्त हैं कि अपने को भूल गये हैं। नृत्य-ही-नृत्य रह गया है।

गुप्त काल के बाद

गुप्त काल के बाद भारतीय निर्माण-कला में नई-नई शैलियां निकलीं और बहुत-सी इमारतें बनीं। आबू पर्वत पर सफेद संगमरमर के जैन मन्दिर वर्णनातीत हैं। इनमें से विमलशाह का बनवाया हुआ आदिनाथ का मन्दिर, तेजपाल का बनवाया हुआ दूसरा मन्दिर संसार की सबसे सुन्दर इमारतों में से हैं। सिरोही रियासत में बसन्तगढ़ का मन्दिर और कोनारक का सूर्य का मन्दिर भी कला की दृष्टि से किसी से कम नहीं हैं।

११ वीं सदी में महमूद गजनवी के सेवक अलउत्बी ने मथुरा के एक मन्दिर का जो वर्णन किया है वह हमारे देश का सिर ऊंचा करता है—"शहर के बीच में एक मन्दिर है जो औरों से बड़ा और सुन्दर है।

इसका न ढ न हो सकता है और न चित्र खींचा जा सकता है।" सुल्तान ने इसके बारे में लिखा है कि "अगर कोई इसके मुकाबले की इमारत बनाना चाहे तो एक अरब सोने के दीनार खर्च किये बिना न बना सकेगा। योग्य और अनुभवी-से-अनुभवी कारीगर भी २०० वर्ष में बना सकेंगे। मूर्तियों में पांच ऐसी थीं जो लाल सोने की बनी थीं। पांच-पांच गज लम्बी थीं और हवा में लटक रही थीं। इन मूर्तियों से ६८३०० मिस्काल सोना मिला। चांदी की मूर्तियां २०० थीं। बिना तोड़े हुए इनका तोलना नामुमकिन था।"

मुस्लिम-कला

बाद में मुसलमानों के प्रभुत्व काल में हिन्दुओं की मूर्ति-कला ने ह्रास पाया। मुसलमान लोग न केवल मूर्ति-पूजा स्वयं नहीं करते थे बल्कि इससे कट्टर द्वेष करते थे। मूर्तियों को तोड़ते थे। इसलिए यह कला क्षीण हुई। हां, चित्र-कला इस समय में बढ़ी। मुसलमान लोग इसके शौकीन थे। हिन्दू प्रतिभा को यह रास्ता शेष रहा था। इसमें भी अलौकिक चमत्कार दिखाया है। राजपूताने में आमेर, जोधपुर आदि में सैकड़ों हृदयग्राही चित्र अंकित किये गए।

इस समय की दूसरी विशेषता भवन-निर्माण-कला है। मुसलमानों के शौक से हिन्दुओं की भी इधर रुचि बढ़ी। इस समय की इमारतों पर हिन्दू-कला का बड़ा प्रभाव है। मुसलमान राजाओं की बहुत-सी इमारतें—दिल्ली और आगरे के किले, फतहपुर सीकरी के महल, लाहौर का मकबरा, ताजमहल आदि—हिन्दू-कला से प्रभावित हैं।

चित्रकारी

काश्मीर के अनन्त वर्मा के महल पर जो आम के फल अंकित थे—कहते हैं कि वे इतने सन्देहकारक थे कि कौए उनमें ठोंग मार जाया करते थे।

कालीदास ने अपने प्रसिद्ध नाटक 'शकुन्तला' में चित्रकारी का

सिद्धान्त कला के साथ दिखाया है। विरही राजा दुष्यन्त ने मनोविनोद के लिए भावमनोहर प्रेयसी शकुन्तला का ही चित्र चित्रपट पर खींचा। फिर राजा को लगा, यह तो अपूर्ण रह गई, केवल शकुन्तला का चित्र काफी नहीं। इसमें जल से छल-छलाती मालिनी भी हो, उसके सैकत (बालू) में हंसों के जोड़े बैठे हों। हिमालय के पवित्र आश्रम में बैठे हरिण भी यहां दिखाए जाने चाहिएं। आश्रम-तरुओं में वल्कल टंग रहे हों और उसके नीचे काले मृग के सींग में मृगी अपने बाएं नयन को खुजलाती हुई आनन्द में विभोर हो। तब यह चित्र पूरा होगा। वास्तव में शकुन्तला अपना अन्त आप नहीं; बल्कि इस समस्त दृश्यमान सत्ता के भीतर विहित है और एक अखण्ड अविच्छेद्य 'एक' की ओर संकेत करती है। वह इन सबके साथ अविच्छिन्न रूप से संश्लिष्ट है। कालीदास की इच्छा है कि कला वही है जो मनुष्य को परम-तत्त्व की ओर उन्मुख करे; नहीं तो वह माया है, प्रपंच है।

सोमेश्वर की अभिलषितार्थ चिन्तामणि में चार प्रकार के चित्रों का उल्लेख है—(१) विद्ध चित्र जो इतना अधिक असली वस्तु से मिलता हो कि दर्पण में पड़ी परछाईं के समान लगे। (२) अविद्ध चित्र, जो काल्पनिक होते थे। (३) रसमान, जो शृंगारादि रसों की अभिव्यक्ति के लिए बनाए जाते थे। (४) धूलिचित्र—चित्रों में सोने का भी प्रयोग होता था। एक जगह लिखा है कि बढ़िया चित्र वह है जो सोते हुए में प्राण दिखा सके।

नृत्य-कला

यह कला देश में बड़ी प्रचलित थी। संस्कृत काव्यों में अनेकों जगह इसका वर्णन है। यह दो प्रकार की होती थी—परुषनाच (तांडव) और सुकुमारनाच (लास्य)। पहले को प्रायः पुरुष नाचते थे। इसके आदि-प्रवर्त्तक शिव माने जाते हैं। दूसरा स्त्रियों के लिए था। इन्हीं के दूसरे नाम क्रम से नृत्त और नृत्य भी हैं। नृत्य या लास्य के साथ गाना भी होता है। नाट्याचार्य भरतमुनि ने इसके दस भेद बताए हैं।

मल्लकला

शरीर को सुकुमार या कठोर बनाना भी कलाओं में एक कला है। उसमें शरीर को मज़बूत बनाकर मल्लयुद्ध-विद्या का अभ्यास बहुत किया जाता था। महाभारत के विराट पर्व (१२वाँ अध्याय) में भीम और जीमूत नामक मल्ल की कुश्ती का हृदयग्राही चित्र है। कुश्ती के अनेकों दांव-पेचों के नाम दिए हैं—जैसे "कृत" दाव मारना, "प्रतिकृत" उसकी काट करना, "अवधूत" मुक्का मारना, गिराकर पीस देने को प्रमाथ, हाथों से ऊपर उठाकर पटकने को प्रमाथ और नीचे पड़े पहलवान को स्थान से हटाने को प्रच्यावन कहा जाता था। इसी प्रकार के अनेकों दाव महाभारत और भागवत में लिखे हैं।

इन्द्रजाल

इन्द्रजाल का अर्थ है इन्द्रियों को जाल में फंसा देना; अर्थात् आँख, कान, नाक को धोखा देना। हमारे देश की यह कला सारे संसार में प्रसिद्ध थी। तन्त्र-ग्रन्थों में इसकी अनेकों विधियाँ बताई गई हैं। इन्द्र और संवर इस विद्या के आचार्य थे। ये ऐन्द्रजालिक पृथ्वी पर चांद, आकाश में पर्वत, जल में अग्नि और मध्याह्न काल में संध्या दिखा सकते थे। जगद्गुरु शंकराचार्य ने अपने वेदान्तभाष्य में ऐसे ऐन्द्रजालिक का जिक्र किया है जो नागरिकों के बीच में खड़ा था। उसने कच्चा धागा आकाश में फेंका, वह वहीं ठहर गया। वह ऐन्द्रजालिक उस धागे के सहारे आकाश में चढ़ते-चढ़ते अलक्ष्य हो गया। फिर थोड़ी देर बाद उसके हाथ, पैर, सिर आदि कटे-कटाये गिरे। लोग समझे कि यह देवासुर संग्राम में मारा गया। बाद में वही ऐन्द्रजालिक फिर ऊपर से उतर आया। ऐसे चमत्कार अनेकों स्थलों पर साहित्य में मिलते हैं।

लिपि-कला

लिपि (अक्षर लिखना) भी हमारे देश की अत्यन्त प्राचीन कला है

अशोक के शिलालेखों में जिस लिपि का प्रयोग किया गया है वह ब्राह्मी कहलाती है। ब्राह्मी का अर्थ ब्रह्मा की बनाई हुई है। इसका सारांश यही है कि इसे प्राचीन काल में भी सृष्टि-कर्ता परमेश्वर द्वारा प्रचलित माना जाता था। अर्थात् इसके बनाने वाले का पता नहीं था। इस ब्राह्मी लिपि का ही परिवर्तित रूप देवनागरी है। महावैयाकरण पाणिनि ने ई० पू० लगभग ४०० वर्ष में चौदह सूत्रों में इस लिपि के अक्षर गिनाए हैं। उन सूत्रों को बाद में आचार्यों ने "माहेश्वर" कहा है। अर्थात् भगवान् शिव कहते हैं। इससे भी यही पता चलता है कि ई० पू० पांचवीं छठी शताब्दी तक हमारे वंशजों को यही ज्ञात था कि यह लिपि-शास्त्र ब्रह्मा या शिव द्वारा प्रचलित है।

इसी समय के बौद्ध साहित्य में स्पष्ट रूप से भिक्षुओं के लिखने का जिक्र आता है। उस समय एक से अधिक लिपियाँ प्रचलित थीं। ई० पू० दूसरी शताब्दी में कात्यायन आचार्य ने यवन लिपि का पृथक् जिक्र किया है, जो इस बात को बताता है कि आयोनियन लोगों की लिपि पृथक् होगी। वेद-काल में भी लिखने का संकेत मिलता है। ऋग्वेद का एक मन्त्र मूर्ख की निन्दा में कहता है कि जो अपढ़ होता है वह वाणी को देखता हुआ भी नहीं देखता और सुनता हुआ भी नहीं सुनता। इससे स्पष्ट मालूम पड़ता है कि वाणी बोली भी जाती थी और देखी भी जाती थी। वाणी का देखना लिपि के द्वारा ही हो सकता है। वैसे भी वर्णों की बनावट वेदी के आकार, यज्ञों में प्रयोग में लाये गए पत्रादि को देखकर की गई है। इससे भी पता चलता है कि यह कला भारतवर्ष में ही पैदा हुई, बाहर से नहीं आई।

अशोक के समय में ब्राह्मी और खरोष्ट्री दो लिपियाँ प्रचलित थीं। खरोष्ट्री दाएं से बाएं लिखी जाती थी और ब्राह्मी बाएं से दाएं।

कला का दार्शनिक अर्थ

भारतीय साहित्य के अनुसार 'कला कला के लिए' नहीं होती। यह

परमात्म-तत्त्व को दिखाने के लिए होती है। वह परमात्म-तत्त्व वास्तव में व्यापक और सर्वज्ञ चैतन्य है। पर काल, नियति, राग, विद्या, कला—इन पांच आवरणों से ढक जाता है। इसलिए वह अपने को सुखी, दुःखी, अल्पज्ञ समझने लगता है। यही माया है। माया को यदि वह पहचान ले तो उसका उपयोग परिचय में करता है। यदि भ्रम में पड़ा रहे तो इन पांच आवरणों को ही सर्वस्व समझता रहता है। वास्तव में इन्हीं आवरणों का प्रयोग परमात्म-तत्त्व के असली रूप के समझने में करना चाहिए। कला भी इन आवरणों में से एक है। वह भी यदि हमें ईश्वर की ओर ले जावे तब तो ठीक है; नहीं तो भ्रम है।

जिसकी विश्रान्ति भोग में है वह कला कला नहीं मानी जाती। जिससे जीवात्मा परम-तत्त्व में लीन हो जावे, वह उत्तम कला है।

कला का भारतीय विश्लेषण

हमने विहंगम दृष्टि से ऊपर देखा कि हमारी कला ने देश और काल को भी आक्रान्त किया था। साहित्यिक ग्रन्थों में जो कला का विश्लेषण और विवेचन मिलता है उससे पता चलता है कि भारतीय प्रतिभा ने अनेकों कलाओं को चरमसीमा तक पहुंचाया था। वात्स्यायन आचार्य ने नागरिकों के दातुन करना, पान चबाना, शयन, स्नान, क्रीड़ा आदि में भी कला का प्रदर्शन किया है।

कलाओं की संख्या भारतीय विश्लेषण के अनुसार ६४ है। ललित विस्तार के अनुसार ८६ कलाएं होती हैं। इनमें प्रधान ये हैं—गाना, बजाना, नाचना, चित्रकारी, कच में मणि बिठाना, पानी के बाजे बजाना, हाथी-दांत के आभूषण बनाना, पेय तैयार करना, सीना-पिरोना, जाली बुनना, पहेलियां कहना, समस्यापूर्ति, मणियों व रत्नों की परीक्षा, धातुओं का मिलाना, रत्नों का रंगना और उनकी खानों का ज्ञान, वृक्षों को छोटा-बड़ा बनाना, तोता-मैना पढ़ाना, शरीर तथा सिर में मालिश करना, व्यायाम, भिन्न-भिन्न भांति की शराब बनाना, माली का काम,

आदि।

इससे मालूम पड़ता है कि जीवन की साधारण बातों में भी भारतीय सौन्दर्य देखना चाहते थे ; उसे कलात्मक बनाना चाहते थे। ऊपर कला के इतिहास में जो कहा गया है वह अधिकतर ध्वंसावशेषों के आधार पर है, जो स्वभावतः मूर्ति-कला और भवन-निर्माण-कला तक ही सीमित है। प्राचीन चित्रकारी आदि के अवशेष इस समय नहीं रहे। हाँ, पुस्तकों में ऐसे वर्णन अवश्य ते हैं जिनसे आश्चर्यजनक चमत्कार प्रतीत होता है।

तेरहवां भाग

हमारे महान् सम्राट्

प्रियदर्शी अशोक

सम्राट् अशोक का जन्म मौर्य कुल में हुआ था। मौर्यकुल का समय भारतीय इतिहास में सुवर्ण युग के नाम से प्रसिद्ध है। इस युग में भारतीय सभ्यता उच्चतम शिखर पर पहुंच गई थी और देश की सीमा को लांघ कर विदेशों में भी फैली थी। देश की राजनीतिक एकता का दृष्टान्त सबसे पहले इसी युग में मिलता है। इन सब गुणों का श्रेय मौर्यकुलभूषण उन सम्राटों को है जिन्होंने अपने बुद्धि-बल, बाहु-बल से देश का सिर ऊंचा किया। प्रियदर्शी अशोक इसी मौर्य कुल का चमकता दीपक था।

जन्म

महाराज अशोक का जन्म ई० पू० ३०४ वर्ष अनुमान लगाया जाता है। महावंश नामक बौद्ध ग्रन्थ में लिखा है कि अशोक के कुमार महेन्द्र और कुमारी संघमित्रा ने जब दीक्षा ली तो उनकी आयु क्रम से २० और १८ वर्ष की थी और वह सम्राट् के राज्याभिषेक का छठा वर्ष था। सम्राट् का राज्याभिषेक ई० पू० २७० वर्ष माना गया है। इससे महेन्द्र का जन्म ई० पू० २८४ में हुआ। यदि कुमार महेन्द्र के जन्म के समय में अशोक की आयु कम-से-कम २० वर्ष मानी जावे तो जन्म ई०

पृ० २०४ में सिद्ध होता है। ये महाराजा बिन्दुसार के पुत्र और सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के पौत्र थे।

इनके बाल्य-काल का वर्णन न किसी पुस्तक में मिलता है और न ही शिलालेख इस विषय पर प्रकाश डालते हैं। महाराजा बिन्दुसार की मृत्यु के समय अशोक उज्जयिनी के शासक थे। पिता की मृत्यु का समाचार पाने के बाद ही वे वहां से चल पड़े और बड़े भाई सुसीम या सुमन को पराजित कर राजगद्दी पर बैठे।

राज्याभिषेक

इनके राज्याभिषेक के विषय में बौद्ध ग्रंथों में बड़े अतिशयोक्तिपूर्ण उपाख्यान हैं, जिनमें अशोक को "कालाशोक" नाम से लिखा गया है और लिखा है कि वे अपने निन्यानवे भाइयों को मारकर गद्दी पर बैठे थे। परन्तु यह सच नहीं मालूम पड़ता। अशोक के शिलालेख, जो राज्याभिषेक से १३ वर्ष बाद लिखे गये, स्पष्ट बताते हैं कि उस समय उसके कई भाई थे तथा उनके साथ उसका प्रेम का बर्ताव था। असलियत यह है कि राजा बिन्दुसार अशोक से कम प्रेम करते थे और सुसीम से अधिक। एक बार बिना हथियारों की सेना के साथ उन्होंने अशोक को तक्षशिला का उपद्रव शांत करने भेजा। अशोक के सौजन्य के प्रभाव से वह शांत हो गया। वहां से लौटने पर कुछ समय बाद फिर उपद्रव हुआ तो प्रधानमन्त्री के आग्रह पर सुसीम को भेजा गया। सुसीम का व्यवहार कटु था और प्रधानमन्त्री उससे रुष्ट था। सुसीम के चले जाने पर बिंदुसार अकस्मात् रुग्ण हो गए। प्रधानमन्त्री ने अशोक को राजगद्दी पर बिठा दिया और कह दिया कि सुसीम को आने पर राजा बना दिया जावेगा। इसी समय बिंदुसार का स्वर्गवास हो गया। उधर प्रधानमन्त्री के इशारे पर तक्षशिला की प्रजा सुसीम से शांत न हुई; दूसरी ओर यह घटना घटी। सुसीम क्रुद्ध होकर लौट पड़ा। सीमा पर उसे रोक दिया गया। दिव्यावदान में लिखा है कि नगर के मुख्य द्वार पर जो अशोक

की मूर्ति थी उसे वास्तविक अशोक समझ कर सुसीम मारने चला तो खाई में गिरकर मर गया । बौद्ध ग्रंथों ने दीक्षा से पूर्व के अशोक का जीवन निन्दनीय दिखाने के लिए सेर को सवा मन कर दिया है ।

वैयक्तिक जीवन

चूंकि अशोक का राज्याभिषेक एक संघर्ष के बाद हुआ था इसलिए अशोक इसकी वर्ष-गांठ मनाया करता था । एक शिलालेख में लिखा है कि उसने छब्बीसवीं वर्षगांठ पर पच्चीस कैदी मुक्त किये । राज्य को अशोक ने कर्तव्य समझा, अधिकार नहीं । उसने आदेश दिया था कि "सूचना देने वाले व्यक्ति मुझे हर समय हर स्थान पर सूचना देते रहें; चाहे मैं भोजन कर रहा हूँ या अन्तःपुर में हूँ ; चाहे मैं विश्राम-गृह में हूँ या अश्वशाला में अथवा उपवन में । मुझे अपनी कर्तव्य-परायणता तथा अध्यवसाय से सन्तोष नहीं है, क्योंकि समस्त संसार का कल्याण करना मेरा कर्तव्य है ।"

साम्राज्य-विस्तार की इच्छा

अशोक ने अपने पिता तथा पितामह को साम्राज्य-वृद्धि के प्रयत्न करते देखा और सुना था। वीरता उसे पैतृक सम्पत्ति में मिली थी । महत्त्वाकांक्षा मौर्य कुल का स्वभाव था । परिणामस्वरूप अशोक का युवक हृदय साम्राज्य-विस्तार के लिए लालायित हो उठा । सेना संगठित कर कलिंग देश पर, जो उन दिनों स्वतंत्र था, आक्रमण कर दिया । कलिंग-वासियों ने भी अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिए प्राण-पण की बाजी लगा दी । घोर संग्राम मचा । पर विजय अशोक को मिली और पराजय कलिंगवासियों को । इस समराग्नि में एक लाख के लगभग कलिंगवासी काम आए और डेढ़ लाख कैदी हुए । हाहाकार मच गया । युद्ध के बाद महामारी ने बचे-खुचों को अपना ग्रास बना डाला । हजारों विधवाओं के सिंदूर पुछ गए और न जाने कितने सनाथ अनाथ बने ।

आखिर जो राज-काज होने थे वे हुए। विजय-पताका गाड़ दी गई और एक लाख मृतक कलिंगवासियों के खून से सन्धि-पत्र भी लिख दिया गया।

पर इस हाहाकार और आर्त्त-नाद ने अशोक की हृत्तन्त्री को झंकृत कर दिया, उसकी छिपी मानवता को जगा दिया। वह कहने लगा—"इस नर-संहार का उत्तरदायी कौन ? अशोक ?? असंख्य आत्माओं के रक्त से होली खेलकर क्या मेरी आत्मा शान्ति प्राप्त करेगी ? कदापि नहीं।" इन सब विचारों ने युवक हृदय में क्रांति उत्पन्न कर दी। उसने प्रतिज्ञा की कि "आज से तलवार से विजय प्राप्त नहीं करूंगा, धर्म से करूंगा। मेरा जीवन अहिंसा, भाई-चारा और मानवता को फैलाएगा ; हिंसा, द्वेष और दानवता को नहीं।" उसने ऐसा ही किया।

इस प्रकार अशोक ने इतिहास में एक नवीन युग पैदा किया। अहिंसा सबसे बड़ा धर्म है और "जिधर धर्म है उधर विजय है" इस अध्यात्म-विद्या के सिद्धान्त का उसने अपने शासन में अनुवाद किया।

साम्राज्य-सीमा

पर देखने से मालूम पड़ता है कि अशोक की साम्राज्य-सीमा इन आदर्शों से बढ़ी ही, घटी नहीं। अशोक का राज्य समस्त भारत-भू पर व्याप्त था।

अशोक ने अपने साम्राज्य की सीमाओं पर शिलालेख खुदवाए थे, जो पूर्व में धौली जि० पुरी में, पश्चिम में जूनागढ़ काठियावाड़ में, उत्तर में कालसी जि० देहरादून में, दक्षिण में सोपारा जि० थाना में पाये जाते हैं। इससे मालूम पड़ता है कि अशोक के साम्राज्य की सीमा निर्दिष्ट दिशाओं में निर्दिष्ट स्थानों तक फैली हुई थी।

इसके अलावा इन्हीं के शिलालेखों में उन राजाओं के नाम आए हैं जो उस समय अशोक साम्राज्य के आसपास राज्य करते थे। उनकी राज्य-सीमाएं भी इस साम्राज्य-सीमा से बाहर ही पड़ती हैं, भीतर

नहीं। इसलिए ऊपर बताया अशोक साम्राज्य यथार्थ है।

शासन-प्रबन्ध

महाराज अशोक का शासन-प्रबन्ध उस समय की परिस्थिति का बहुत अच्छा हल था। देश को विभिन्न विभागों में बांट दिया गया था। वे विभाग प्रान्त भुक्ति (provinces) कहलाते थे। ये दो प्रकार के होते थे—राजनीतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण तथा साधारण। पहलों का शासन कुमार करते थे और दूसरों का अन्य योग्य व्यक्ति जो 'रजूक' कहलाते थे। इनकी नियुक्ति अशोक स्वयं करते थे। इन प्रान्तों को भी प्रदेशों में बाँटा गया था। उनके उत्तरदायी शासक 'प्रादेशिक' कहलाते थे। प्रदेश विषयों में बंटे हुए थे। छोटा बड़े के प्रति उत्तरदायी था। केन्द्रीय शक्ति सम्राट् के स्वयं अपने हाथ में थी। भुक्तिपति कुमार और रजूकों के साथ एक-एक मन्त्रि-परिषद् थी। उसी के परामर्श से ये लोग शासन करते थे। इस प्रकार प्रजातन्त्र पद्धति का भी आवश्यक अंश विद्यमान था। उस समय जब दूर-दूर आना-जाना कठिन था, यह शासन-व्यवस्था सर्वोत्तम थी।

धर्म-प्रचार

शासन को सुव्यवस्थित करने में ही सम्राट् की समस्त शक्ति नहीं लग गई थी, प्रत्युत उन्होंने बौद्ध धर्म का क्रियात्मक प्रचार भी किया। आप भी कर दिखाया और दूसरों को भी प्रेरणा की। "धर्ममहामात्र" नाम के नए अधिकारी रखे, जो प्रत्येक भुक्ति में होते थे। ये धर्म-प्रचार, धार्मिकों की रक्षा, प्रजा के आचार का निरीक्षण आदि करते थे। धर्म-यात्राएं चलाईं। विहार-यात्राओं को छोड़कर धर्म-यात्रा के लिए संबोधि वृक्ष को जाया करते थे। इस यात्रा में धर्म-प्रचार, उपदेश और प्रजा के साथ सम्पर्क पैदा करते थे।

जगह-जगह सड़कें, कुएँ, तालाब और बगीचे बनवाए और समाज को आदेश दिया कि पुण्य कर्म करने चाहिएँ। स्थान-स्थान पर धर्म-

लिपियाँ खुदवाकर प्रचारित कीं । बौद्ध-धर्म का मिशनरी अशोक से बढ़कर कोई नहीं हुआ ।

धर्म

सम्राट् अशोक का धर्म साम्प्रदायिकता से रंगा न था । उन्होंने सार्वजनीन कल्याणकारी बातें समाज में फैलाई और बुरी बातों को रोका। साधुता, दया, सत्य, दान, शौच, मार्दव तथा कम-से-कम पाप करना आदि उसके विधि धर्म में थे। चण्डता, क्रोध, मान, नैष्ठुर्य और ईर्ष्या को उसने रोका; ये उसके निषेध धर्म में थे। इनसे किसको विरोध होगा ? और क्यों होगा ?

वास्तव में यह देश-रत्न समस्त भारत को अपना प्रिय देखना सीखा था; इसी लिए अपना नाम भी इसने "प्रियदर्शी" कर लिया।

विक्रमादित्य (चद्रगुप्त द्वितीय)

ईसा की मृत्यु के उपरान्त चतुर्थ शताब्दी में सबसे बड़े रोमन साम्राज्य का पतन हुआ और संस्कृति का वह सुन्दर दीप जिसे रंगमंच से चलते समय यूनानी लोग रोमन साम्राज्य को सौंप चले थे, बुझ गया। यूरोप पर बर्बर जातियों का आतंक छा गया। उसी समय हमारा देश अशोक की मृत्यु के पश्चात् अपने पर पड़े घोर अन्धकार के परदे से निकल, अपनी अतीत विभूति को फिर से हस्तगत करने को सचेष्ट हो रहा था।

भारतवर्ष टुकड़े-टुकड़े हो चुका था । साम्राज्य के स्थान पर अनेक राज्य बन गए थे । अनेकों आक्रमणों की आँधियाँ आये दिन देश में चलती थीं । इन आँधियों में कनिष्क का साम्राज्य भी थोड़े समय के लिए फला-फूला था । पर भारतीयों को अनार्यों की बढ़ती हमेशा अखरती रही। उनके राज्य में ये तिलमला उठे थे। उन्होंने ठान लिया था कि अनार्यों को देश से बाहर निकालकर रहेंगे । चौथी सदी में उनकी यह इच्छा फलवती हुई । उन्हें एक योग्य साहसी नेता मिला

गया और उन्होंने आर्यावर्त को अनार्यों से स्वतन्त्र करने का युद्ध आरम्भ कर दिया।

इस नेता का नाम चन्द्रगुप्त था। यह उसी मगध का राजा था जिसने अशोक जैसे सम्राट् को जन्म दिया था और जहाँ पर मौर्य कुल का वैभव पराकाष्ठा को पहुँचा था। किन्तु यह तो पाटलीपुत्र का एक साधारण राजा था। इसका मौर्य वंश से कोई सम्बन्ध नहीं था। मौर्य वंश के लोग इस समय ऐतिहासिक रंगमंच से गायब हो चुके थे।

यह साधारण परिस्थिति का राजा असाधारण महत्त्वाकांक्षाओं से भरा था। उसे अनार्यों से घिरा आर्यावर्त रह-रहकर अखरता था। आखिर उसने अपना सिर उभारा। उत्तरापथ के राजाओं से मैत्री की और अपना इरादा उन्हें बताया। उसके इस अपूर्व साहस को देखकर लिच्छिवि वंश के राजाओं ने अपनी कन्या चन्द्रगुप्त को दे दी। लिच्छिवि वंश उस समय भी बड़ा प्रतिष्ठित था। महावीर और महात्मा बुद्ध जैसे महापुरुषों को इसने जन्म दिया था। फलतः लिच्छिवि वंश के सम्बन्ध से चन्द्रगुप्त की आशाएं और जागीं। उसने आसपास के प्रांतों को अपने छत्र के नीचे ले लिया और अपने लिए महाराजाधिराज की पदवी उपार्जित कर ली। चन्द्रगुप्त के पराक्रम और लिच्छिवियों की प्राचीनता के संगम से गुप्त वंश के सुवर्ण-युग का अभ्युदय हुआ और साथ ही भारत में नवीन चेतना का संचार हुआ। निदान उसने २६ फरवरी ३२० को एक नवीन सम्वत् की स्थापना की, जो गुप्त वंश के पश्चात् भी बहुत दिनों तक चालू रहा। यही चन्द्रगुप्त की शक्ति का असली माप-दंड है।

समुद्रगुप्त

प्रथम चन्द्रगुप्त का राज्य-काल लगभग १५ वर्ष अर्थात् ३२० ई० सन् से ३३५ ई० सन् तक रहा। उसकी मृत्यु के बाद उसका पराक्रमी पुत्र समुद्रगुप्त गद्दी पर बैठा। 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात'। बचपन से ही समुद्रगुप्त पर लक्ष्मी रीझ गई थी। उसमें चक्रवर्ती

सम्राटों के सारे लक्षण दीखने लगे थे। विदेशी शक्तियों से संघर्ष था, इसलिए उसके पिता ने सबसे बड़ा न होने पर भी समुद्रगुप्त को ही अपना उत्तराधिकारी बनाया। उसके अभिषेक के समय पिता ने हर्ष के आँसू बहाए। दरबारियों के मुख-मण्डल चमके और ईर्ष्यालुओं पर पाला पड़ा।

तिलक करने के बाद पिता ने आशीर्वाद दिया कि बेटा जाओ, दिग्विजय करो। पुत्र ने पिता की आज्ञा का पूरा-पूरा पालन किया और वह दिग्विजय के लिए निकल पड़ा। उसकी अनुपम तलवार भारत के किस-किस कोने में चमकी, इसकी साक्षी उसी के दरबार के कवि हरिषेण की प्रशस्ति में विद्यमान है। यह प्रशस्ति प्रयाग-स्तम्भ पर आज भी उसका यशोगान कर रही है। उसमें लिखा हैः—

"इस समुद्रगुप्त ने सैकड़ों युद्धों में विजय प्राप्त की थी। उसका शरीर शस्त्रों के घावों से शोभायमान था। वह अपने भुज-बल पर ही भरोसा रखता था, इत्यादि।"

चौथी सदी के भारत की सभी शक्तियों ने उसका लोहा माना था। सबसे पहले उसने अपने निकटवर्ती राजाओं को ललकारा और उन्हें मुँह की खिलाई। समस्त उत्तरापथ को जीतकर दक्षिण देश की ओर उसकी दृष्टि पड़ी। संकल्प के अनुसार वह चल पड़ा और उड़ीसा के वनमय प्रदेश के दो राजाओं को परास्त कर दिया। फिर दक्षिण की ओर मुड़ा और महानदी और कृष्णानदी के बीच के प्रदेश को जीतकर घर लौट आया। मद्रास प्रान्त में कांजीवरम् में उसकी रणभेरी बजी थी। उसने दक्षिण-पथ के सभी राजा परास्त किये, पर दया कर सबको जीवन-दान दिया। उसका प्रचंड प्रताप लंका तक छा गया। सीमांत के सभी राजाओं ने उसके सामने सिर झुकाए। दक्षिण बंगाल, आसाम, नैपाल, कुमाऊँ आदि पूर्व और उत्तर भारत के नरेशों ने उसकी आधीनता स्वीकार की और कर देने लगे। उसकी कीर्ति पश्चिम में रोम तक और पूर्व में चीन तक फैली थी।

शिलालेख का वर्णन स्पष्ट बताता है कि समुद्रगुप्त ने अपने तीन वर्षों के दिग्विजय काल में, आज जैसे रेल, तार, मोटर आदि साधन न रहने पर भी, तीन हजार मील के लगभग यात्रा की। हमें एक बार फिर सिकन्दर की बिजली भरी शक्ति याद आ जाती है। समुद्रगुप्त जिधर भी गया, राजा झुक गए और सरदारों ने पगड़ियां रख दीं। इस उपलक्ष में समुद्रगुप्त ने अश्वमेध यज्ञ किया और न्याय तथा विजय से कमाई सम्पत्ति तथा गौएं ब्राह्मणों को दक्षिणा के रूप में दे दीं। इस यज्ञ का घोड़ा भारत के कोने-कोने में मदमाता फिरा और किसी राजा को यह साहस न हुआ कि वह उसे बाँधे। इसका आशय यह था कि इस देश में सभी धनी-मानी राजाओं ने समुद्रगुप्त को देश का चक्रवर्ती राजा मान कर उसकी आधीनता स्वीकार की थी।

महाकवि कालीदास का यह कथन यथार्थ है कि समुद्रगुप्त ने शस्त्र-विजय न कर धर्म-विजय की। उसने राजाओं का जीवन-हरण नहीं किया। यह धर्म-विजय महात्मा बुद्ध ने भारत को सिखाई। सम्राट अशोक ने इसी को कार्यरूप में परिणत किया था। उसी आदर्श का पालन समुद्रगुप्त ने किया।

पर समुद्रगुप्त इन सर्वसामान्य आदर्शों को ही आदर देता था; वैसे बौद्ध-धर्म का अनुयायी न था। बौद्ध नरेशों का वैभव और धर्म साथ-साथ ही अवनत हुए थे। समुद्रगुप्त इस समय कट्टर ब्राह्मणधर्मानुयायी था। उसके अश्वमेध यज्ञ में पशुओं की हिंसा की गई और फिर यह धारणा स्थिर हो गई कि यज्ञ की हिंसा हिंसा नहीं होती।

समुद्रगुप्त जहाँ रणभेरी बजाने में बहादुर था वहाँ उसकी अंगुलियाँ सितार पर भी चलती थीं। कलाओं का वह परीक्षक था, साथ ही उनका पोषक भी था। जब साम्राज्य में शान्ति के दिन बीतने लगे तो कविता, संगीत तथा नाटकों का अनोखा प्रवाह देश में बहा।

समुद्रगुप्त के छत्र के नीचे समस्त भारत आ गया। खंड-खंड भारत एकता के सूत्र में पिरोया गया। बौद्धों के ह्रास पर ब्राह्मण धर्म

के अभ्युत्थान की पताका खड़ी हो गई। उस समय देश की संस्कृति, कला, विज्ञान ऐसे जगे कि वह समय हिन्दू सभ्यता का सुवर्ण-युग प्रमाणित हुआ।

चन्द्रगुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य)

समुद्रगुप्त की मृत्यु ई० सन् ३८० के आस-पास हुई। उसका सारा जीवन संघर्ष के ज्वार-भाटों में अस्त-व्यस्त रहा था। साम्राज्य विस्तार संघटित कर उसकी व्यवस्था बनाने में ही सारी आयु लग गई। फिर पश्चिम में काठियावाड़, गुजरात, उज्जैन आदि, उत्तर में सिन्ध नदी के आस पास और पूर्व में बंगाल उसके साम्राज्य से बाहर थे। उसके ताज में अभी इन हीरों के लिए स्थान खाली था। आखिर वह इन अभि-लाषाओं को साथ ही लेकर गया और इन देश-भागों पर विदेशियों का प्रभुत्व उसके जीवन तक बना रहा।

बाद में चन्द्रगुप्त द्वितीय गद्दी पर बैठा। योग्य पिता के योग्य पुत्र ने सबसे पहले अपने पिता की इच्छाओं को पूरा किया। अपने साम्राज्य की शासन-व्यवस्था नियमित की और सीमावर्ती नरेशों को आधीन किया। सिंध के सात मुहानों को पार कर उत्तर के राजाओं के छक्के छुड़ाए। उन्हें भी अपना कर-दाता बना दिल्ली में लोह-स्तम्भ ध्वजा गड़वाई। इस विजय में सबसे अधिक महत्त्व पश्चिम प्रदेशों की विजय का है। वहाँ विदेशियों का अड्डा रहा था। उनके रहने से यूनान, मिश्र आदि देशों से सम्बन्ध नहीं हो सकता था। अब यह बात न रही, गुप्त साम्राज्य की यह बड़ी कमी पूर्ण हुई और देश अनार्यों से मुक्त हो गया। एक तरह से असली साम्राज्य अभी बना था।

इस प्रकार ४०० ईस्वी में गुप्त साम्राज्य का विस्तार उत्तर-पश्चिम में पंजाब, पूरब में गङ्गा का मुहाना, उत्तर में हिमालय और दक्षिण में नर्मदा नदी थी। अब पश्चिम भाग में विस्तार बहुत हो चुका था। इस लिए पटना को छोड़कर अयोध्या को राजधानी बनाना चन्द्रगुप्त ने

ठीक समझा। केन्द्र से शासन की व्यवस्था और अच्छी हो सकती थी।

विक्रमादित्य उपाधि

उस समय चन्द्रगुप्त के सामने एक विकट समस्या थी। गुप्त साम्राज्य और दक्षिण के बीच वकाटक लोग राज्य करते थे और पश्चिम में काठियावाड़, गुजरात, राजपूताना क्षत्रपों के आधीन थे। क्षत्रप लोग निर्दयी और क्रूर थे। आसपास के सभी लोग उनसे आतंकित थे। वकाटकों की उनसे नित्य-प्रति की लड़ाई रहती थी। इस प्रकार देश तीन शक्तियों के बीच बंटा था—क्षत्रप, वकाटक, और गुप्त। चन्द्रगुप्त क्षत्रपों को उखाड़ना चाहता था, पर वे दूर पड़ते थे। पर उनके दुर्दान्त व्यवहार भी नहीं सहे जा सकते थे। इन अन्यायों के रहते आर्यावर्त्त हिन्दुओं का नहीं समझा जा सकता था।

वकाटकों के पराक्रमी राजा रुद्रसेन द्वितीय से चन्द्रगुप्त ने अपनी कन्या प्रभावती का पाणिग्रहण कर दिया। इस प्रकार देश की दो आर्य शक्तियां संगठित हो गईं। फलस्वरूप अनार्य क्षत्रपों को समूल उन्मूलन कर देश की समुद्री सीमा पर साम्राज्य स्थापित हो गया।

किंवदन्ती है कि ई० सन् से ५७ वर्ष पूर्व में उज्जैन के किसी राजा ने शकों को परास्त कर अपने को विक्रमादित्य (पराक्रम का सूर्य) घोषित किया था। उस परम्परा के अनुसार शक जाति के क्षत्रियों को जीतने पर देश ने चन्द्रगुप्त को 'विक्रमादित्य' उपाधि से भूषित किया।

विक्रमादित्य का व्यक्तित्व

जिस चन्द्रगुप्त ने इतने भारत भू-खण्ड पर अपना साम्राज्य स्थापित किया, उसका शासन व्यवस्थित बनाया, आर्यों की पवित्र भूमि को फिर से आर्य बनाया, उसके विषय का कोई बड़ा शिलालेख उसके व्यक्तित्व के दर्शन कराने को नहीं रहा। इसलिए उसके व्यक्तित्व का स्पष्ट चित्र खींचना कठिन है। हां, किंवदन्तियों के आधार पर कुछ झांकी ली जा सकती है। अपने पिता के समान वह परम विष्णुभक्त और विद्वानों का

आश्रयदाता था ।

इसके सन्धि-विग्रह विभाग का मन्त्री पाटलिपुत्रनिवासी वीरसेन व्याकरणादि का अच्छा पण्डित था । एक बार वह विजय-यात्रा में उदयगिरि पर सम्राट् के साथ था, तब इसने शिव की पूजा के लिए वहां एक गुफा समर्पित की थी ।

आम्रकार्दव नामक एक विद्वान् चन्द्रगुप्त की सेना का बड़ा पदाधिकारी था। इससे उनकी सहनशीलता और उदारता का पर्याप्त परिचय मिलता है ।

हिन्दुओं का सुवर्ण युग

विदेशी आक्रमणों के नीचे देश कुचला जा चुका था । बौद्धों का उत्साह अशोक के साथ क्षीण हो गया था । न देश में चेतना थी और न पराक्रम । "मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना" का राज्य था । अशोक के नाम को स्मरण कर लोग आंसू बहाते थे कि देश फिर एकता में बंधे और स्वतन्त्रता का मधुर फल चखे । इस भागीरथ प्रयत्न को गुप्त वंश ने किया, चन्द्रगुप्त प्रथम ने एकता का बीज बोया । समुद्रगुप्त ने उसमें अपने पसीने का जल देकर सींचा । विक्रमादित्य ने वे फल निर्बाध पकाये । क्या कला, क्या साहित्य, क्या विज्ञान सभी ओर पूरी उन्नति की । जो नवरत्न विक्रमादित्य की सभा में मिलते हैं वे फिर कहीं नहीं मिले । संस्कृत भाषा बौद्धों की चकापेल में पीछे रह गई थी । अब फिर राजकीय भाषा संस्कृत बनी और सैकड़ों ग्रन्थ-रत्न उसमें लिखे गये । इस प्रकार भारत के इस सुवर्ण युग में हिन्दुओं की उदात्त प्रतिभा चहुंओर विकसित हुई और वह सदा के लिए भारत-भू पर अपनी छाप छोड़ गई ।

चौदहवां भाग

हमारा प्राचीन विज्ञान

आयुर्वेद : उत्पत्ति और इतिहास

आयुर्वेद शब्द का अर्थ आयु का ज्ञान है । जिस ज्ञान से प्रत्येक जीवित प्राणी की आयु को कायम रखा जा सके वह आयुर्वेद है । भारतवर्ष का यह विज्ञान अत्यन्त पुराना है। औषधियों का रोगों पर प्रभाव, औषधियों के अनेकों नाम, बीमारियों के नाम अथर्ववेद में बहुतायत से मिलते हैं। ऋग्वेदादि में भी कहीं-कहीं आते हैं। आयुर्वेद के अर्वाचीन आचार्यों ने भी इस विज्ञान की उत्पत्ति अथर्ववेद से ही मानी है। सोमादि औषधियों के रस का पान हमारे पूर्वजों को अत्यन्त प्रिय था। बल्कि ऐसे आसव वेद-काल में भी बनते थे जो नशीले हों। इससे जड़ी-बूटियों का परिचय प्रतीत होता है । यज्ञों में जो पशु काटे जाते थे उससे शरीर-विज्ञान का पता लगता है । ब्राह्मणादि ग्रन्थों में अश्वादि के प्रत्येक अंग का छेदन क्रमपूर्वक लिखा है । बौद्ध ग्रन्थों में आयुर्वेद का बड़ा जिक्र है। तक्षशिला में इसका बहुत बड़ा विद्यालय था और वहाँ के आठ विद्यालयों में यही सबसे अधिक प्रसिद्ध था। सबसे अधिक विद्यार्थी इसी में थे । वहाँ के एक स्नातक की कथा प्रसिद्ध है, जिसने एक सेठ की कन्या का सिर-दर्द आनन-फानन में ठीक कर दिया था। आचार्य चरक कनिष्क के राजवैद्य थे । इस प्रकार औषध-विज्ञना

और शल्य-चिकित्सा हमारे देश की ही उत्पत्ति हैं, यूनान आदि विदेशों की नहीं, जैसा कि लोगों को पहले भ्रम रहा।

भेद

भारतीय आचार्यों के अनुसार आयुर्वेद आठ भिन्न-भिन्न विज्ञानों का सम्मिलित नाम है—(१) औषध-विज्ञान, (२) शल्य-चिकित्सा, (३) आँख, कान, नाक और गले की चिकित्सा (शालाक्य तन्त्र), (४) भूत-विद्या, (५) कौमारभृत्य, (६) अगदतन्त्र, (७) रसायनतन्त्र (८) वाजीकरणतन्त्र।

इन आठ विभागों में से केवल एक प्रथम विभाग ही प्रयोग में आता है। यह हमारा दुर्भाग्य है।

विशेषताएं

इस विज्ञान की दिशा में भारतीयों ने औरों से पहले और अच्छी तरक्की की थी। जिस समय अन्य देश इस विज्ञान से बिलकुल अनभिज्ञ थे, तब सुश्रुत ने शवछेदन का उपदेश दिया था। चरक ने ई० पू० लगभग १०० वर्ष में रक्त-प्रवाह (Blood circulation) का वर्णन किया है। यूरोप में यह बात १७ वीं शताब्दी में साफ तौर से समझी गई। भारत की इस विद्या के चरक, सुश्रुत आदि ग्रन्थों के तो सातवीं आठवीं सदी में अरब आदि देशों में अनुवाद होने लगे थे। यूनान, रोम, चीन आदि देशों में भी इसका पर्याप्त प्रचार हुआ। वहाँ से पढ़ने के लिए विद्यार्थी यहाँ आते थे। चिकित्सा में इसका उपयोग भारतवर्ष ने सबसे पहले किया है। आयुर्वेद की आज भी अपनी विशेषता है। पारे को शुद्ध करना और उनको जीवनोपयोगी बनाना यूरोप नहीं जानता। पर हमारे देश का साधारण-सा वैद्य इसका प्रयोग करता है।

मूल सिद्धान्त

आयुर्वेद का मूल सिद्धांत है कि प्राणी-मात्र का शरीर वात, पित्त,

कफ से बना है। ये तीनों तत्त्व जब अपनी समान अवस्था में रहते हैं तो रोगी स्वस्थ रहता है और जब कोई कुपित या अपनी सीमा से अधिक घट-बढ़ जाता है तो शरीर रोगाक्रांत बन जाता है। हाथ की नाड़ी पर उसका सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है। उससे आसानी से पता लग सकता है कि शरीर में कौन-सा तत्त्व अपनी सीमा में नहीं है। बुखार मात्र की एक ही दवा नहीं होगी; बल्कि वात से पैदा होने वाले की अलहदा, पित्त-ज्वर की अलहदा और कफ-ज्वर की अलहदा।

इस सिद्धांत में वात से वायु, पित्त से शरीर से निकलने वाला पित्त, और कफ से कफ का भाव नहीं है। वात का अर्थ गतिकारक तत्त्व (Phenomena of motion) है; पित्त का अर्थ ऊष्म का तत्त्व (Heat production) है। इसी प्रकार कफ शैत्यकारक और रक्षाकारक तत्त्व (Function of cooling and preservation) का वाचक है।

हम भारतीयों को अपने इस विज्ञान की उन्नति के लिए बहुत बड़े प्रयत्न करने चाहिएं। इसी में देश तथा जाति का कल्याण है।

रसायन-विद्या (Chemistry)

आयुर्वेद के साथ यह विद्या भी अभेद्य सम्बन्ध से बंधी है। पहले-पहल देश के विशेषज्ञों ने काष्ठादि,का ही प्रयोग किया था, पर बाद में वे औषध रूप में धातुओं का प्रयोग करने लगे थे। यह बड़ी ऊंची और अनोखी सूझ थी। अलबेरुनी ने इसकी बड़ी प्रशंसा की है। नागार्जुनाचार्य ने शायद इस प्रयोग को प्रसारित किया। कजली, पारा, लोहा, सोना आदि सभी औषध रूप में प्रयुक्त होते थे।

सुश्रुत ने क्षार बनाने की विधि और उसके रखने तथा चिकित्सा में प्रयोग करने के तरीके बहुत पहले बतलाए हैं। यूरोप में इसका ज्ञान ११ वीं शताब्दी में हुआ, जब भारतीय विद्वानों के प्रयोग दूसरी शताब्दी के मिलते हैं।

आयुर्वेद-शास्त्र में अनेकों इस प्रकार के यन्त्र हैं जिनसे ये क्षारादि बनाए जाते थे।

लोहा, सोना आदि धातुओं का धातु रूप में प्रयोग तो हमारे देश में बहुत पहले हुआ है। वैदिक-काल में सोने-चांदी के अच्छे आभूषण बनाए जाते थे। वरुण का वर्णन सोने का कवच पहने हुए आता है। देहली का कुतुब स्तम्भ, जो १५०० वर्ष पुराना है, आज भी लोगों को आश्चर्य में डालता है। यह २४ फीट लम्बा और साढ़े ६ टन वजन में है। बीच में कहीं पर भी जोड़ के निशान नहीं हैं। इसके बारे में फ्रांस के वैज्ञानिक एच० चेटलियर ने कहा था कि "यह जानकर बड़ा आश्चर्य होता है कि यह स्तम्भ इतने दिन तक खुला रहने के बावजूद ज्यों-का त्यों है। न इसमें कहीं जंग लगा है और न इसका शिखर बिगड़ा है। अक्षरों की खुदाई १५०० वर्ष के बाद भी ऐसी है मानो आज ही की गई हो।" सर रोबर्ट हैडफील्ड ने इसका विश्लेषण किया तो मालूम हुआ कि यह शुद्ध लोहा है, और कुछ नहीं।

ज्योतिष-शास्त्र, जिस में रेखागणित तथा अंकगणित और फलित सभी आ जाते हैं, आदि काल से भारत में प्रचलित है। वैदिक काल में यज्ञ-यागादिकों के करने के लिए समयादि का परीक्षण ज्योतिष से ही होता था। वेदी का माप रेखा-गणित का कारण हुआ। वेदों में इन बातों का प्रासंगिक रूप में वर्णन मिलता है, पर उन्हीं के अंग शुल्व-सूत्रों में यह विज्ञान परिवर्धित रूप में हमें मालूम पड़ता है। उस समय यह विज्ञान सुव्यवस्थित रूप ले चुका था, इस बात को सभी विद्वान् मानते हैं। वेद-काल में पृथक् संवत्सर चलता था, जो वर्तमान संवत्सर से पृथक् था। ऋग्वेद १।६५।३ में स्पष्ट तौर से लिखा है कि सूर्य ऋतुओं का नियमन करके पृथ्वी की पूर्वादि दिशाएं एक के बाद निर्माण करता है। नक्षत्रों का ज्ञान भी वेद-काल में था और भिन्न-भिन्न राशियों पर सूर्यादि किस प्रकार घूमते हैं—यह भी वैदिक ऋषि जानते थे। ब्राह्मण ग्रन्थों में तो यह बात बहुत अधिक स्पष्ट हो गई है।

वाराह मिहिर, आर्यभट्ट आदि इस विज्ञान के प्राचीन आचार्य हैं।

पृथ्वी चल है या अचल, इस विषय पर ज्योतिष में दोनों मत हैं। साधारणतया प्राचीन निश्चय अचल का और नवीन चल का है।

महाकवि मिल्टन ने जैसा लिखा है कि आकाश भगवान् ने हमें बड़ी उत्तम पुस्तक पढ़ने के लिए दी है—इसको हमारे ज्योतिषियों ने बड़ी अच्छी तरह अनुभव किया है। नक्षत्र विद्या या खगोल विद्या में चरम-कोटि की उन्नति प्राप्त कर दिखाई।

पृथ्वी में आकर्षण शक्ति है, उसी के द्वारा भारी वस्तु जमीन पर आकर गिर जाती है—इसका पता भारतीयों को बहुत पहले था। ज्योतिष के पुराने ग्रंथों में यह बात पहले भी थी। ज्योतिष के पुराने ग्रंथों में यह बात मिलती है।

नक्षत्रों की चाल हमारे जीवन पर प्रभाव डालती है, यह भारतीयों का विश्वास रहा है। इसी का नाम फलित है।

हिन्दुओं के उत्कर्ष काल में ज्योतिष की बड़ी उन्नति हुई। राजा-महाराजाओं की सभा में ज्योतिषी रहते थे। उन्हें हर प्रकार की सुविधा थी। वे अज्ञात तत्त्व का अनुसन्धान करते रहते थे। इससे इस विज्ञान को बड़ा प्रोत्साहन मिला। महाराजा मानसिंह को इससे बड़ा स्नेह था। उनके दरबार में ज्योतिषियों की एक परिषद् रहती थी। काशी, जयपुर, दिल्ली आदि में वेधशालाएं आज भी उनकी कीर्ति और विज्ञानप्रियता को बता रही हैं।

पर विदेशियों के आक्रमणों से हमारी प्रत्येक प्रगति को धक्का लगा और विशेषकर ज्योतिष को। ज्योतिष-शास्त्र का विचार और अनुसन्धान वेधशालाएं व्यय-साध्य हैं। राजे-महाराजे ही इन कार्यों में अनुराग रखें तो वृद्धि हो सकती है। मुस्लिम काल में वह अनुराग द्वेष में बदल गया और इतना ऊंचा विज्ञान मिट्टी में मिल गया।

विज्ञान के आविष्कार का श्रेय चाहे कोई जाति ले ले, पर उससे लाभ जन-साधारण उठाते हैं। इसलिए विज्ञान और कला के लिए किसी

भी जाति या सम्प्रदाय विशेष को द्वेष इस आधार पर नहीं करना चाहिए कि यह दूसरों का आविष्कार है। ज्योतिष विज्ञान के भारतीय सिद्धान्तों के आविष्कर्ताओं ने हमारे देश का सिर ऊंचा किया है। इस समय शासन की सहायता से इस ओर प्रगति होनी चाहिए।

पन्द्रहवां भाग

हमारे आधुनिक वैज्ञानिक

अपने प्राचीन विज्ञान की समीक्षा में हमने देखा है कि भारतवर्ष के निवासियों ने भी विज्ञान की दिशा में कम उन्नति नहीं की थी। आयुर्वेद, गणित, रसायन-विद्या, शरीर-विज्ञान आदि विषयों में हमारे पूर्वज और देशों से आगे निकल गये थे। दूसरे देश यहां से ऋण ले गए, हमारे देश ने किसी दूसरे देश के सामने ज्ञान की भीख नहीं मांगी। संस्कृत साहित्य के इतिहासकार श्री ए० ए० मैकडानल्ड अपने 'संस्कृत साहित्य के इतिहास' में लिखते हैं:—"विज्ञान में भी यूरोप भारत का यथेष्ट ऋणी है। उदाहरणार्थ, सबसे पहले अङ्कगणित भारतीयों ही के मस्तिष्क की उपज है और भारतीयों द्वारा आविष्कृत अङ्क आज संसार भर में काम में लाये जाते हैं। इन अङ्कों के आधार पर निर्मित दशमलव पद्धति ने केवल विज्ञान में ही नहीं वरन मानव सभ्यता पर जो प्रभाव डाला है वह अवर्णनीय है। आठवीं और नवीं शताब्दियों में भारतीयों ने अरबों को अङ्कगणित और बीजगणित सिखाया और अरबों से दूसरे पाश्चात्य देशों ने सीखा।"

केवल एक बात की कमी बार-बार अखरती है। वह यह कि हमारे देश के साहित्य, विज्ञान, राजनीति आदि के महापुरुषों का कोई नियमित इतिहास नहीं मिलता। इस ऐतिहासिक अज्ञान के कारण हमें भ्रम हो जाता है कि हमारा देश विज्ञान की खोजों से दूर रहा है। पर

वास्तव में ऐसा नहीं है। बौद्धों के अभ्युदय-काल तक भारत ने विज्ञान में बड़ी उन्नति की। बाद में भी कुछ अंशों में वह उन्नति इसी प्रकार चलती रही, पर कुछ अंशों में अवरुद्ध हो गई। इसके बाद मुस्लिम काल में इस ओर न तो राजाओं का ही ध्यान था और न प्रजा का। फिर भला अभ्युदय कैसे होता! अंग्रेजों के आने पर यूरोपीय विज्ञान के अनुसन्धानों को भारतीयों ने भी उसी प्रकार कर दिखाया जिस प्रकार यूरोपीय लोगों ने। यद्यपि आज से कुछ समय पूर्व यहां अनुसन्धान के साधनों का सर्वथा अभाव था, पढ़ने-पढ़ाने की भी सुविधा उतनी अच्छी नहीं थी, और शिक्षितवर्ग में प्रोत्साहन भी नहीं था, फिर भी भारतीयों ने इन कठिनाइयों के रहते हुए आश्चर्यजनक उन्नति कर दिखाई है।

अब हम इस अध्याय में उन स्वनामधन्य महापुरुषों के जीवन-चरित और आविष्कारों का वर्णन करेंगे जिन्होंने आधुनिक युग में अपने अनुसन्धानों से देश को आढ्य बनाया है। इनमें सबसे पहला नाम श्री डा० महेन्द्रलाल सरकार का आता है।

डा० महेन्द्रलाल सरकार

आप किसी ऊंचे घराने के बालक नहीं थे। हावड़ा नगर के पास पाइपाड़ा नाम के एक छोटे से गांव में आपका जन्म हुआ था। आपके पिता अत्यन्त साधारण स्थिति के गृहस्थी थे। खेती-बारी से अपना निर्वाह कठिनता से करते थे। महेन्द्रलालजी ने इन्हीं के घर २ नवम्बर सन् १८३३ को जन्म पाया। नियति ने आपकी परीक्षा करनी चाही। यह होनहार बालक अपने बालकपन के पूरे पाँच साल भी समाप्त न कर पाया था कि उसके पिता की मृत्यु हो गई।

पितृ-हीन बालक के लालन-पालन का भार उसके मामा पर पड़ा। मामा भी साधारण स्थिति के थे, पर वे शिक्षा के बड़े प्रेमी थे। बालक महेन्द्रलाल की प्रखर बुद्धि ने उन्हें मुग्ध कर दिया और उन्होंने चाहा कि इन्हें उत्तम शिक्षा दी जावे। प्रारम्भिक शिक्षा गांव में दिलाने के बाद

उन्होंने बालक महेन्द्रलाल को श्री ठाकुरनाथ दे को सौंपा। श्री दे साहब केवल विद्या के ही समुद्र नहीं थे बल्कि स्नेह और करुणा भी उनमें कूट-कूट कर भरी थी। उनके स्नेह और गम्भीर ज्ञान के आगे महेन्द्रलालजी को पितृ-वियोग नहीं अखरा और दे साहब के पास एक साल के लगभग इङ्गलिश की शिक्षा प्राप्त की। अपने बाद के जीवन में वे दे साहब को बड़ी श्रद्धा और प्रेम से याद किया करते थे।

बाद में अपने मामा के प्रयत्नों से वे डेविड हेयर स्कूल में दाखिल हो गए। एक ओर तो महेन्द्रलालजी कुशाग्र बुद्धि थे, दूसरी ओर इस स्कूल के संस्थापक मि० डेविड हेयर बड़े दयालु थे। परिणामस्वरूप महेन्द्रलालजी की फीस आदि माफ हो गई और अन्य आर्थिक सुविधायें भी मिलीं। स्कूल का अध्ययन शुरू हुआ और महेन्द्रलालजी की बुद्धि का विकास होने लगा। थोड़े दिनों में वे सारे स्कूल में सर्वप्रिय बन गए। डेविड साहब तथा अन्य अध्यापकगण उनकी प्रखर बुद्धि का बड़ा आदर करते थे। सन् १८४६ में जब सोलह साल के थे तो आपने हाई स्कूल परीक्षा सम्मानपूर्वक पास की और एक छात्र-वृत्ति भी प्राप्त की।

बाद में वे प्रेसीडैन्सी कालेज में, जो उस समय हिन्दू कालेज के रूप में था, दाखिल हो गए। बालकपन से ही आपको पुस्तकों के पढ़ने का बड़ा शौक था, कालेज में आकर वह और भी बढ़ गया। बड़े-बड़े विद्वानों के सम्पर्क ने आपकी ज्ञान-पिपासा को बढ़ाया। उसको बुझाने के वहां साधन भी थे। वे लाइब्रेरी में जाकर भिन्न-भिन्न विषयों की पुस्तकें पढ़ते थे। पुस्तकों के पढ़ने से उन्हें विज्ञान की उपयोगिता और उपादेयता अधिक प्रतीत हुई। उसका ज्ञान प्राप्त करने के लिए वे लालायित थे, पर उन दिनों स्कूल, कालेजों में कहीं भी विज्ञान की पढ़ाई का प्रबन्ध नहीं था।

सन् १८५५ में हिन्दू कालेज प्रेसीडैन्सी कालेज बन गया था, पर फिर भी वहां विज्ञान के अध्ययन का कोई प्रबन्ध न हुआ। हारकर

महेन्द्रलालजी ने अपना प्रवेश मैडिकल कालेज में करा लिया।

मैडिकल कालेज में आपके विकास में चार चांद लग गए। कक्षाओं में जितना पढ़ाया जाता था उससे अधिक पुस्तकों द्वारा वे पढ़ लेते थे। इसलिए कक्षाओं में सबसे अच्छे तो रहते ही थे, अपने से आगे की श्रेणी के छात्रों में भी किसी-किसी बात में वे अच्छे रहते थे। एक दिन वे अपने छोटे बच्चे को कालेज के अस्पताल में आंखों की दवा दिलवाने ले गए। डा० आर पांचवें वर्ष के विद्यार्थियों को क्रियात्मक ज्ञान की शिक्षा दे रहे थे। महेन्द्रलाल जी की विद्यमानता में ही डा० साहब ने विद्यार्थियों से आंखों के बारे में कई प्रश्न पूछे, जो जटिल थे। महेन्द्रलाल उस समय प्रथम वर्ष में पढ़ते थे। जबके उत्तर न दे सके तो सारी कक्षा को मौन देखकर वे ही उत्तर देने लगे। उनके उत्तर को सुनकर डा० साहब आश्चर्य-चकित होगए। उन्होंने आपका नाम पूछा। नाम सुनकर बड़े प्रसन्न हुए। और भी कई प्रश्न उनसे किये गए, उनका सन्तोष-जनक उत्तर पाकर और भी प्रसन्न हुए। बाद में मैडिकल कालेज में आपकी प्रसिद्धि बहुत बढ़ गई। यहां तक कि आपने अपने ही कालेज में नेत्र-विज्ञान पर भाषण दिए। सन् १८६२ में आपने मैडिकल कालेज से सम्मानपूर्वक एल० एम० एस० परीक्षा पास की। तीन वर्ष के बाद १८६५ में उन्होंने प्रथम श्रेणी में एम० डी० परीक्षा भी पास कर ली।

अब आपने प्रैक्टिस शुरू कर दी और उसमें बड़ी सफलता मिली। बाद में आपका रुझान होम्योपैथी की ओर विशेष हो गया था, यद्यपि वे पहले इसके विरोधी थे। बाद में होम्योपैथी से ही चिकित्सा प्रारम्भ कर दी। चार-पांच साल उन्हें अधिक कठिनता का सामना भी करना पड़ा, पर बाधाओं के सामने झुकना सरकार जानते ही न थे। आखिर, फिर उनका यश और आमदनी दोनों बढ़ने लगे।

साइंस एसोसिएशन की स्थापना

उनके अब तक के जीवन में कोई विचित्रता नहीं दीखती। पर अब

इस एक बड़ी विशेषता का जिक्र करने लगे हैं और वह महेन्द्रलालजी का विज्ञान-प्रेम है। आपने छात्रावस्था से ही इस अमूल्य वस्तु को प्राप्त किया था और हर दशा में अंकुर का सिंचन किया। प्रैक्टिस करते समय अनेकों बार आपने विज्ञान-प्रसार पर भाषण दिए। सन् १८६६ में आपने "कलकत्ता जरनल आव मेडिसन" नामक पत्रिका निकाली। इस सिलसिले में आपने विज्ञान एसोसियेशन की स्थापना और उसके उद्देश्यों की एक आयोजना प्रकाशित की। इसकी भिन्न-भिन्न समाचारपत्रों में बड़ी प्रशंसा हुई। सरकार साहब को उससे आशा बंधी। वे स्वयं वैज्ञानिक न होने पर अपने देश को विज्ञान से समृद्ध देखना चाहते थे।

पर एसोसियेशन की स्थापना में उन्हें बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। अन्ततोगत्वा छः साल के बाद आपके प्रयत्न सफल हुए। १५ जनवरी १८७६ ई० को बंगाल के छोटे लाट द्वारा भारतीय विज्ञान परिषद् की स्थापना हुई। यह दिवस भारतवर्ष के वैज्ञानिक इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा। आपकी योजना को सुनकर काली-कृष्ण टेगोर ने वैज्ञानिक यंत्रों के लिए २५०००) दान किए। इसके अलावा १००००) भवन-निर्माण के लिए भी दे डाले। पर इसके भवन निर्माण का सारा भार महाराजा विजयानगरम् ने अपने ऊपर ले लिया।

इस संस्था का लक्ष्य भारत में वैज्ञानिक अनुराग का प्रसार करना था। सरकार साहब कहा करते थे कि हम कब तक विदेशों के वैज्ञानिक आविष्कारों को बाजीगरों के तमाशे के बराबर तटस्थ बनकर देखते रहेंगे। हमें भी उसमें भाग लेना चाहिए और उससे लाभ उठाना चाहिए। उन्होंने अपने इस प्रेम को अन्त तक निभाया। बहुत दिन तक वे इस संस्था के अवैतनिक मन्त्री रहे और इसमें सब प्रकार से जीवन डालते रहे। साइन्स एसोसियेशन ने भारत का अवर्णनीय उपकार किया है। आज यह संस्था संसार की प्रमुख संस्थाओं में से एक है। सर सी० वी० रमन् और के० एस० कृष्णन् सरीखे वैज्ञानिक इसी

संस्था की उपज हैं। इस प्रकार हमारे देश की वैज्ञानिक उन्नति के स्नेहमय पिता डॉ० महेन्द्रलाल सरकार हैं। यदि वे आज जीवित होते तो देश के लब्ध-प्रतिष्ठ वैज्ञानिकों को देखकर वे कितने प्रसन्न होते।

डॉक्टर सरकार की निःस्वार्थ सेवाओं पर समाज और सरकार दोनों ही मुग्ध थे। वायसराय लार्ड कर्जन ने आपको डाक्टर ऑफ लॉ की उपाधि प्रदान की। आनरेरी मजिस्ट्रेट भी आप बने। शीघ्र ही बंगाल प्रान्त की कौंसिल के सदस्य भी आप निर्वाचित हुए और भारत सरकार की ओर से सी० आई० ई० की उपाधि आपको मिली।

डा० सरकार निःस्वार्थसेवी सरल स्वभाव के व्यक्ति थे। उनकी भविष्यदर्शिता बड़ी तीक्ष्ण थी। साथ ही सरल स्वभाव और नम्रता ने उनके व्यक्तित्व को बड़ा ऊंचा बना दिया था। साइन्स एसोसियेशन की स्थापना कर देश को उन्होंने अपना ऋणी बनाया है। हमारे देश में वैज्ञानिक प्रेम की जो सरिता बही है उसके आदि-स्रोत डा० सरकार थे। उनमें एक बड़ा भारी गुण था कि वे आत्मश्लाघी नहीं थे।

सन् १९०४ में आपकी ७०वीं वर्ष-गांठ बड़ी धूमधाम से मनाई गई और उसी साल आप स्वर्ग सिधारे। शरीर-त्याग के समय आपके शब्द थे, 'ईश्वर और धर्म में विश्वास करना'।

डा० जगदीशचन्द्र वसु

डा० जगदीशचन्द्र वसु पहले भारतीय थे, जिन्होंने अपने अद्भुत कार्यों तथा नितान्त नवीन आविष्कारों के द्वारा भारत को अंतर्राष्ट्रीय जगत् में समुचित स्थान दिलाया। प्राचीन ऋषि-मुनियों की अध्यात्म-विद्या को आपने विज्ञान के द्वारा सिद्ध करके भौतिकवादी पश्चिम को भारतीय ज्ञान-विज्ञान की उत्कृष्टता स्वीकार करने पर विवश किया। आप महान् वैज्ञानिक होने के अतिरिक्त उच्चकोटि के दार्शनिक और आदर्शवादी थे। आप कुशाग्र बुद्धि तथा सर्वतोमुखी प्रतिभा के स्वामी

थे। आपका सारा जीवन अपूर्व आत्म-त्याग और तपस्या के प्रभावशाली उदाहरणों से परिपूर्ण है। आप आधुनिक वेश-भूषा में एक सच्चे भारतीय ऋषि थे । पूर्वीय संस्कृति और सभ्यता के संरक्षक और उन्नायक थे। पश्चिम के लोग आपको 'पूर्व का अद्भुत-कर्मा जादूगर' कहने लगे और आपकी जन्मभूमि 'भारत' को आदर और सम्मान की दृष्टि से देखने लगे। आपकी गणना संसार के सर्वश्रेष्ठ वैज्ञानिकों में की जाती है।

आपका जीवन-काल सन् १८५८ से १९३६ तक है। आपके प्रसिद्ध आविष्कार निम्नलिखित हैं:—

बेतार का तार—आपने विद्युत्-तरंगों के गुणों की खोज करते-करते सबसे पहले यह सिद्ध किया कि विद्युत्-तरंगों को ईथर में फेंककर बिना तार की सहायता के सन्देश को दूसरी जगह पहुँचाया जा सकता है। १८६५ ई० में आपने बंगाल के गवर्नर के सामने कलकत्ता के टाउनहाल में बेतार के विलक्षण प्रयोगों का प्रदर्शन किया। एक कमरे में ईथर की तरंगों को ऊपर फेंककर आपने उनके द्वारा बिना तार के दूसरे कमरे में घंटी बजवाई, भारी बोझ उठवाया और विस्फोट कराया। खेद का विषय है कि अन्य देशों के वैज्ञानिकों ने इस विलक्षण आविष्कार का श्रेय आपको न देकर इटली के वैज्ञानिक मार्कोनी को दिया, जिसने यह तत्व आपसे काफ़ी देर बाद मालूम किया था। वास्तव में जगदीशचन्द्र बसु ही संसार में बेतार के जनक थे। आपने सबसे पहले यह भी सिद्ध किया कि इस तत्व को व्यावसायिक और व्यावहारिक रूप भी दिया जा सकता है। आज रेडियो को हम घर-घर में रखते हैं और बच्चा-बच्चा इसके चमत्कार से भली प्रकार परिचित है।

जड़ पदार्थों की चेतनता—आपने वैज्ञानिक रीति से भारतीय अध्यात्म-विद्या के इस गूढ़ रहस्य को सिद्ध कर दिया कि संसार के सभी जड़ पदार्थ सचेतन हैं । आपको उपनिषदों और गीता के स्वाध्याय से इस सत्य को प्रेरणा मिली । सच्चे वैज्ञानिक की भांति आपने उसका अनुसरण किया और अंत में आप अपने प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध करने में

सफल हो गए कि जड़ पदार्थों और प्राणियों के बीच कोई खाई नहीं है, वरञ्च वनस्पति जीवन का एक पुल है। पौधे और वृक्ष भी हमारी भांति सुख-दुःख, गर्मी-सर्दी और भूख-प्यास के द्वन्द्व को अनुभव करते हैं। वे भी हमारी तरह सोते-जागते, खाते-पीते, आराम करते, काम करते और मरते हैं। इसी प्रकार जड़ पदार्थों के अन्दर भी सुप्त-जीवन रहता है। उदाहरणार्थ, विष के प्रभाव से धातु आदि जड़ पदार्थ बेहोश हो जाते हैं, नशे से उनके अन्दर मस्ती आ जाती है, इत्यादि। भौतिकवादी वैज्ञानिक जो पहले हमारी अध्यात्म-विद्या का उपहास उड़ाया करते थे, अब आपके श्रद्धालु भक्त बन गए।

विलक्षण यन्त्रों का आविष्कार—आपने अनेक विलक्षण यन्त्रों का आविष्कार किया, जिनकी सहायता से आपको अपने सिद्धांतों की पुष्टि में विशेष योग मिला। एक यन्त्र द्वारा आप पौधों की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म बाढ़ की गति को नापने में समर्थ हो गए। एक और यन्त्र के द्वारा आप दस लाख गुना अभिवर्धन करने में समर्थ हो गए। आपके कई यन्त्रों ने तो पश्चिमीय संसार को नितान्त चकित कर दिया।

संजीवनी बूटी—अपने अन्तिम दिनों में आपने एक ऐसी बूटी का पता लगा लिया था जिसके गुण संजीवनी बूटी से मिलते-जुलते थे। उसके प्रभाव से मृत-प्राय प्राणियों में भी नए जीवन का संचार हो सकता था।

सारांश यह है कि आपके क्रान्तिकारी आविष्कारों से मानव-संसार का महान् उपकार हुआ है और विज्ञान के सभी विभागों (भौतिक विज्ञान, रसायन, शरीर-विज्ञान, कृषि-विज्ञान, औषधि-विज्ञान और जीव-विज्ञान) में हमारी जानकारी में भारी वृद्धि हुई है। इनकी बनाई हुई संस्था बोस-विज्ञान-मंदिर (कलकत्ता) और इनकी शिष्य-मण्डली द्वारा अब भी वैज्ञानिक उन्नति और खोजों में भारी प्रयत्न हो रहे हैं।

नोबल पुरस्कार विजेता डा० सी० वी० रमन

आपका जन्म श्री जगदीशचन्द्र बोस के जन्म से ठीक ३० वर्ष बाद नवम्बर सन् १८८८ ई० में हुआ। आपने विज्ञान की खोज का काम १८ वर्ष की आयु में ही आरम्भ कर दिया था। आप जन्मजात वैज्ञानिक की उपाधि से प्रसिद्ध हैं। अपने शुद्ध वैज्ञानिक प्रेम के लिए आपने समय-समय पर अनेक कष्ट सहन किए, भारी वेतन की आराम वाली एकाउंटैंट जनरल की ऊंची सरकारी नौकरी को छोड़कर थोड़े वेतन की परिश्रम-पूर्ण नौकरी (सायंस कालिज के प्रिंसिपल की पदवी) को स्वीकार किया। आपकी गणना संसार के भौतिक-विज्ञान के चुने-गिने आचार्यों में की जाती है। आपके अनुसन्धानों की विशेषता यह है कि वे सर्वथा मौलिक हैं और विविधता को लिये हुए हैं, अर्थात् उनका क्षेत्र बड़ा विस्तीर्ण है। प्रकाश और रंग, समुद्र जल का नीला रंग, ऐक्स-किरण अनुशीलन, चुम्बकीय अनुसंधान सम्बन्धी आपने अनेक खोजें की हैं। आपकी सर्वश्रेष्ठ खोज, जो आपने १६०७ से १६१७ तक की, 'रमन-प्रभाव' के नाम से प्रसिद्ध है। सूत्र रूप में इसका भाव यह है कि विक्षेपण द्वारा प्रकाश का रंग बदल जाता है। इस विषय के आप प्रामाणिक पंडित गिने जाते हैं। पश्चिमीय संसार ने विश्व के सबसे बड़े पुरस्कार 'नोबल-पुरस्कार' को देकर आपको सम्मानित किया है। देश में और विदेशों में जितना सम्मान आपको मिला है, उतना किसी और वैज्ञानिक को कम ही मिला होगा। बंगलौर इंस्टीट्यूट के आप डायरेक्टर रहे हैं। उपाधियों और उपहारों की आपको चाह नहीं, वे आपके पीछे स्वयं दौड़ते हैं। आपकी धारणा है कि सच्चे वैज्ञानिक का उद्देश्य काम करना है, उसे सच्चे सुख की प्राप्ति अपने कार्य की सफलता से होती है। उपाधियां और सांसारिक सम्मान तो उसके लिए गौण पदार्थ हैं। उत्साह इतना है कि वृद्ध होकर भी नवयुवकों से बढ़कर काम करते हैं। आपका इस आयु में यह कथन है कि मैंने अभी तो अपना वैज्ञानिक

जीवन आरम्भ ही किया है । आपने अपने अनुसंधानों को प्रायोगिक और व्यावहारिक रूप भी देने का प्रयत्न किया है । आपकी खोजों से भौतिक विज्ञान और रसायन दोनों को भारी लाभ पहुँचा है । इसके अतिरिक्त गणित में भी हमारी जानकारी में अच्छी वृद्धि हुई है । हमें अपने इस महान् वैज्ञानिक पर बड़ा गर्व है और भविष्य में इससे भी बड़ी आशाएं हैं ।

आचार्य डॉ० प्रफुल्लचन्द्र राय

जन्म और शिक्षा—आपके पिता श्री हरिश्चन्द्र राय अपने समय के फारसी के अच्छे विद्वान् थे । समाज-सुधार और लोकोपकार की भावना उनमें ईश्वरीय देन थी । उनके घर में, खुलना जिले के इकड़ी कतिपरा नामक गांव में, आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय का जन्म २ अगस्त १८६१ ई० को हुआ । पिता वैसे तो साधारण परिस्थिति के थे, पर बालकों को उत्तम शिक्षा देने के पक्ष में रहते थे । फलस्वरूप आपकी शिक्षा भी अच्छे स्कूलों में ही हुई । बल्कि आपके पिताजी आपकी पढ़ाई-लिखाई की सुविधा के ध्यान से ही कलकत्ते चले आए थे । आपने क्रम से बी० ए० पास किया ।

प्रफुल्लचन्द्रजी को बालकपन से विज्ञान की पढ़ाई-लिखाई में विशेष अभिरुचि थी । पर उन दिनों कॉलेजों में इसके पढ़ने-लिखने का प्रबन्ध नहीं था । पिताजी की आर्थिक दशा ऐसी भी नहीं थी कि अपने व्यय से प्रफुल्लचन्द्रजी को विदेश भेज सकें । आखिर आचार्य राय को यह सूझा कि गिलक्राइस्ट छात्र-वृत्ति की परीक्षा में बैठा जावे । यह छात्र-वृत्ति विदेश में विशेषाध्ययन के लिए होती थी । घर न बताकर आप चुपचाप इसकी भी तैयारी करने लगे । परीक्षा हुई; समस्त भारत के योग्य विद्यार्थी इसमें सम्मिलित हुए; प्रथम आये आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय । आपको छात्र-वृत्ति मिल गई । जीवन का मार्ग खुल गया और आचार्य राय की साध पूरी होने के आसार दीखने लगे । विलायत में एडिनबरा

में आपने रसायन, भौतिक-विज्ञान और साथ-साथ वनस्पति-विज्ञान तथा जन्तु-विज्ञान का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया। वहां के विशिष्ट विद्वानों से सम्पर्क बढ़ा और उनसे आपने पर्याप्त लाभ उठाया।

एक बार यूनीवर्सिटी के लार्ड रेक्टर ने एक निबन्ध-प्रतियोगिता रखी। "गदर के पूर्व और बाद का भारत" विषय पर निबन्ध लिखे गए। आचार्य राय उस समय वहां बी. एस-सी. की तैयारी कर रहे थे। आपने कुछ समय के लिए सब काम छोड़कर यह निबन्ध लिखा, जो प्रतियोगिता में सबसे अच्छा समझा गया। वहां के समाचारपत्रों ने मुक्त कण्ठ से इसकी सर्वोत्तमता स्वीकार की। पर पारितोषिक आपको न मिला, क्योंकि आपने उसमें अंग्रेजों की आलोचना की थी। इस पक्षपात से आपके हृदय में ग्लानि पैदा हो गई और अपने देश के उद्धार की भावना ने घर कर लिया। बाद में आपने डी० एस-सी० परीक्षा में भी सफलता प्राप्त की। नौकरी की तलाश की गई। आप अपने अध्यापकों और मित्रों के प्रशंसापत्र तथा अपने प्रमाण-पत्र लेकर इण्डिया ऑफिस में गए और प्रार्थना की कि उन्हें इण्डियन एजूकेशन सर्विस में स्थान मिल जावे। पर वहां आपकी आशा पूरी न हुई, क्योंकि आप काले हिन्दुस्तानी थे। सब प्रकार योग्य होते हुए भी गोरे अंगरेजों की तुलना में आप हीन समझे गए। निराश होकर आप लौट आए और फिर भारत आ गए।

नौकरी—भारत में आकर आप प्रेसीडेंसी कालेज में प्रोफेसर नियुक्त किए गए। वहां आपने बड़ी लगन से काम किया। स्वयं अनुसन्धान में लगे, और छात्रों में भी अन्वेषण का प्रेम बढ़ाया। अन्वेषण के साधन उस समय बहुत कम थे। फिर भी आपने कठिनाइयों का मुकाबला करते हुए अपना अन्वेषण कार्य जारी रखा। गोरी जाति के वर्ण-भेद का शिकार आपको यहां भी होना पड़ा। योग्यता में आप उनसे बहुत बढ़े-चढ़े थे, पर वेतन सब से थोड़ा था। आपसे न रहा गया और इस बात की आपने डायरेक्टर से शिकायत

को, जो स्वयं अंग्रेज था और अपनी जाति के मिथ्या ऊंचेपन का अभिमानी था। उसने आपको सान्त्वना देने के बजाय व्यंग किया कि यदि आप इतने बड़े रासायनिक हैं तो अपनी रसायनशाला क्यों नहीं खोल लेते। आचार्य राय उस समय तो इस कड़वे घूंट को पी गये, पर तरुण हृदय में वाणी का बाण लग गया। उस व्यंग्य का जवाब आपने 'बंगाल केमिकल वर्क्स' खोलकर दिया।

अनुसन्धान और अन्वेषण—आप बड़े अध्यवसायी थे। बड़ी जल्दी ही आपने कई अन्वेषण तथा अनुसन्धान कर दिखाए। 'पारद नाइट्राइट' नामक पारद यौगिक सबसे पहले आपने ही तैयार किया था। यह सन् १८९६ की बात है। इस कार्य की अपने देश और विदेशों में बड़ी प्रशंसा हुई। परदेशों से अनेकों बधाइयाँ आपको आईं। कहना चाहिये कि आपका प्रथम अन्वेषण ही आपकी अन्तर्जातीय ख्याति का मूल बन गया। बाद में इस यौगिक की सहायता से आपने लगभग अस्सी योग और तैयार किए और कई एक महत्वपूर्ण एवं जटिल समस्याओं पर प्रकाश डाला। अमोनियम नाइट्राइट, ज़िंक, कैडमियम, कैल्सियम, स्ट्रोंशियम, बेरियम और मैगेन्शियम आदि के बारे में भी आपने अनेकों महत्वपूर्ण संधान निकाले। बाद के वर्षों में आरगेनोमैटलिक यौगिकों में विशेषकर प्रोटिनम गन्धक और पारद आदि के संयोग से बनने वाले यौगिकों का विशेष रूप से अध्ययन किया और उनके बारे में कई रोचक एवं उपयोगी तत्त्वों का पता लगाया। संक्षेप में, आचार्य राय ने अपने वैज्ञानिक अनुसन्धानों और अन्वेषणों से यह सिद्ध कर दिया कि भारतवासी आधुनिक विज्ञान के अध्ययन, अनुशीलन और अन्वेषण में किसी से कम नहीं हैं।

हिन्दू रसायन का इतिहास—इन अनुसन्धानों के अतिरिक्त एक और कार्य द्वारा आचार्य ने अपने देश का गौरव ऊंचा किया। आपने 'हिन्दू रसायन शास्त्र का इतिहास' नामक विशाल ग्रन्थ लिखा है

और सिद्ध किया है कि प्राचीन भारत भी विज्ञान में बहुत आगे था। आपकी प्रत्येक बात में भारतीयता और स्वदेश-प्रेम रहा। विज्ञान साधना भी उससे खाली नहीं है।

विशेषता—देश के अन्य वैज्ञानिकों से आप में कुछ विशेषताएं ऐसी हैं जिनसे आप हमारे अधिक पूज्य और स्पृहणीयचरित हो गए। अधिकतर वैज्ञानिक ईश्वर में विश्वास नहीं करते। पर हम अपने प्राचीन वैज्ञानिकों को परखें तो पता चलेगा कि वे ईश्वर-विश्वासी ही नहीं, अपितु उसके अनन्योपासक होते थे। आचार्य राय में ईश्वर-निष्ठा उसी तरह की थी जैसी कि धर्म-प्राण भारतीय में होनी चाहिए।

दूसरे, आपने अपना विज्ञान, व्यापार, उपार्जन, सभी कुछ अपने लिए न करके देश के लिए किया। अपने देश के जनता-जनार्दन के वे अनन्य उपासक थे। 'बंगाल कैमिकल वर्क्स' धन कमाने के लिए नहीं खोला गया था; किन्तु विदेश में प्रतिवर्ष विलायती ओषधियों के लिए व्यय होने वाली विशाल धन-राशि को अपने देश में ही रखने के लिए खोला गया था। उसकी आय उसके कार्यकर्ताओं पर ही अधिकतर बट जाती है।

वैज्ञानिक के साथ आप उच्चकोटि के देशभक्त थे। बंगाल का खादी-प्रतिष्ठान आपकी उपज है। स्वदेशी का आन्दोलन देश में फैलाने का श्रेय आपको भी है। अछूतोद्धार की आवश्यकता सबसे पूर्व आपने निकाली थी। बाद में गांधी जी के आधीन यह कार्य आरम्भ हुआ। देशी उद्योग-धन्धों में आपका अटल विश्वास था। वैज्ञानिक होकर चर्खे की उपयोगिता के अनुयायी आचार्य राय ही हो सकते थे।

भारतीय आचार्यों का प्राचीन आदर्श "मैं एक बहु रूप में बदल जाऊं" (एकोऽहं बहु स्याम् प्रजायेय) आप में मिलता है। अपना रूप आप अपने शिष्यों को समझते थे। अपने कार्यों का श्रेय अधिकतर अपने शिष्यों को देने का आपका नियम था। आपका निश्चय था कि आचार्य की शोभा उसके शिष्यों की महत्ता से है। इस भावना के फलस्वरूप

आपको फल भी मिला। आपकी शिष्य-मण्डली में अनेकों ऐसे रत्न हैं जो देश के अभिमान हैं, और जिनकी गवेषणाएं अत्यधिक ख्याति प्राप्त कर चुकी हैं। आपके अनेकों शिष्य अन्तर्जातीय ख्याति के वैज्ञानिक हैं।

सम्मान—देश-विदेश दोनों से ही आपको पर्याप्त सम्मान मिला। विश्व-विद्यालय ने आपकी निःस्वार्थ ऊंची वैज्ञानिक सेवाओं का बड़ा आदर किया। सक्रिय सेवा से अवकाश लेने के बाद भी आप वहाँ के सम्माननीय अवकाश-प्राप्त आचार्य रहे। सन् १६२० में भारतीय विज्ञान कांग्रेस के सभापति के रूप में भी देश ने आपके दर्शन किए। इस पद से आपने जो भाषण दिया था वह वैज्ञानिक प्रचार के लिए अमूल्य निधि है। इण्डियन कैमिकल सोसायटी की स्थापना द्वारा आपने देश में विज्ञान का प्रचार किया। इस सोसायटी ने आपकी सत्तरवीं वर्ष-गांठ पर एक विशाल स्मारक-ग्रन्थ भेंट किया। इस ग्रन्थ में देश के बड़े-बड़े सभी वैज्ञानिकों के गवेषणापूर्ण लेख हैं।

सरकार द्वारा भी सन् १६११ ई० में आपको सी० आई० ई० की उपाधि प्रदान की गई। उसके बाद महायुद्ध की समाप्ति पर 'सर' का खिताब आपको दिया गया।

व्यक्तित्व—आचार्य राय का जितना बड़ा विज्ञान है, उतना ही, बल्कि उससे भी अधिक, ऊँचा उनका व्यक्तित्व है। आजन्म ब्रह्मचारी आचार्य राय में प्राचीन ऋषियों की झाँकी मिलती है। लाखों कमाकर भी आपकी सादगी इतनी अधिक है कि समुदाय में अनजान आदमी आपको नहीं जान सकता था कि आचार्य राय कौन से हैं। विशुद्ध बंगाली वेश में रहकर इस आधुनिक 'कणाद' ने करोड़ों रुपया अपने विज्ञान-बल से कमाकर देश-सेवा में लगा दिया। आपका सारा जीवन अपने लिए न होकर समाज और देश के लिए रहा।

सन् १६४१ ई० में आपकी जब ८०वीं वर्ष-गाँठ सारे देश ने धूम-धाम से मनाई तो देश का सारा विज्ञान-हृदय उमड़ पड़ा और नत-

मस्तक होकर सभी ने आपको श्रद्धाञ्जलियां भेंट कीं। उस समय आपने उस सम्मान का जो उत्तर दिया था वही आपके व्यक्तित्व की पूरी व्याख्या है। वह यह है :—

"मैं अपनी मृत्यु के बाद भी उन व्यक्तियों के रूप में जीवित रहूंगा जो अज्ञान, अत्याचार और अन्याय के प्रति युद्ध में लगे हुए हैं और मानव-समाज को दासता एवं दुःख-दारिद्र्य से उन्मुक्त करने के लिए प्रयत्नशील हैं।"

डा० सर शाह मुहम्मद सुलेमान

सर शाह सुलेमान उच्चकुलोत्पन्न विद्वान् थे। आपका वंश ऐतिहासिक महत्त्व का है, विद्वानों का वंश है। न्यूटन के समकालीन, फ़ारसी वैज्ञानिक ग्रन्थ 'शम्शे वजीघा' के रचयिता मुल्ला मुहम्मद इसी परिवार में पैदा हुए थे। सम्राट् शाहजहाँ ने इन्हीं मुल्ला साहब को उलुगबेग की प्रसिद्ध वेधशाला में ज्योतिष का ऊँचा ज्ञान प्राप्त करने के लिए समरकन्द भेजा था। इसी परिवार में सुलेमान बालक का जन्म जौनपुर में फरवरी १८८६ ई० में हुआ।

वंश का प्रभाव बालक पर पड़ा। महत्वाकांक्षा, ऊंचे विचार और परिमार्जित मस्तिष्क आपको विरासत में मिले। उसके फलस्वरूप अपनी प्रारम्भिक शिक्षा में ही आपने अपने महत्त्व के चिह्न दिखा दिए। कुशाग्र बुद्धि और परिश्रम के कारण आपके शिक्षक आपसे सदा प्रसन्न रहते थे। आपने १९०६ में प्रयाग के कालेज से बी० एस-सी० परीक्षा पास कर विश्वविद्यालय में प्रथम स्थान पाया। इसी उपलक्ष में इंगलैण्ड जाकर उच्च अध्ययन करने के लिए आपको सरकारी छात्र-वृत्ति भी दी गई। उसी वर्ष इंगलैण्ड चले गए और केम्ब्रिज विश्व-विद्यालय में अपना प्रवेश करा लिया। आप अध्ययनशील तथा कुशाग्र बुद्धि होने के कारण वहाँ शीघ्र ही विशेषता पा गए। सर जे० जे० टामसन के प्रधान शिष्यों में आपकी गिनती होती थी। १९०१ ई० में

वहां की सबसे बड़ी विज्ञान की परीक्षा 'ट्राइपास' सम्मानपूर्वक पास कर ली।

इसके बाद आप सिविल सर्विस परीक्षा में बैठे, पर उसमें सफल न हो पाए। ईश्वर को इष्ट यही था कि शाह साहब विज्ञान की सेवा करें, शासन के पुर्जे न बनें। अन्ततोगत्वा आपने कानून की वहाँ सबसे ऊँची परीक्षा एल० एल० डी० पास की और देश में वापिस आकर घर पर प्रैक्टिस करना प्रारम्भ कर दिया। प्रतिभा का विकास और नियति के इशारे से आप जौनपुर के सीमित वातावरण को छोड़कर प्रयाग में आकर हाईकोर्ट के वकील बन गए। वहाँ भी आपने थोड़े दिनों में ही अच्छी ख्याति प्राप्त कर ली। रानी शेरकोट, धर्मपुर बमरौली और मिलावल के संगीन अभियोगों ने आपको एकदम ऊँचा चढ़ा दिया। तत्कालीन जज सर हैनरी रिचार्ड्स और सर ग्रिमवुड मीयर्स आपके अगाध कानून-ज्ञान से बड़े प्रभावित हुए। फलस्वरूप उन्होंने सरकार से सिफारिश कर ७-८ साल की प्रैक्टिस के बाद ही शाह साहब को ३४ साल की आयु में हाईकोर्ट का स्थानापन्न जज नियुक्त करा दिया। इतनी अल्पायु में इतना उत्तरदायित्वपूर्ण पद या तो आपको मिला था या फिर द्वारकानाथ मिश्र को कलकत्ता हाईकोर्ट में। मिश्र साहब तैंतीस साल की उम्र में ही जज नियुक्त हो गए थे। स्थानापन्नता की अवधि समाप्त होते ही आप स्थायी जज बन गए। कुछ ही वर्ष बाद प्रधान न्यायाधीश भी आप बन गए। यद्यपि आपकी इस पद-प्राप्ति में सरकार की साम्प्रदायिक नीति का भी हाथ था, परन्तु योग्यता की दृष्टि से भी यह नियुक्ति सर्वथा उचित थी।

पाँच वर्ष बाद १९३७ में आप संगठित संघ-अदालत के जज नियुक्त हो गए। इस पद ने आपका विदेशी न्यायाधीशों से बड़ा सम्पर्क बढ़ा दिया था और आपकी ख्याति भी बहुत हो गई थी।

अब तक का आपका जीवन बाह्यरूप से प्रत्यक्ष था। उसका आंतरिक स्वरूप तथा शाह साहब की मौन साधना अभी प्रत्यक्षरूप से बाहर

न आई थी। शाह साहब ने कानून के क्षेत्र में उच्चतम पद प्राप्त किया और अपने ज्ञान से इस क्षेत्र में भी बड़ी सफलता प्राप्त की। मेरठ षडयन्त्र केस का फैसला आपकी अदालत में हुआ था। इस केस के फैसले के लिये मजिस्ट्रेटी अदालत ने पूरे दो साल तथा सैशन अदालत ने चार साल लिए थे। पर माननीय सुलेमान ने आठ दिन में फैसला सुना दिया। लोगों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। संघ-अदालत में भी जो पहला अभियोग पेश हुआ था वह बड़ा पेचीदा था। पर उसका निर्णय आपने बड़ी बुद्धिमानी से किया था। इङ्गलैण्ड के सुप्रसिद्ध कानून के पण्डित मि० जे० एच० मार्कन कलकत्ता में टैगोर कानून का लैक्चर देने आए तो उन्होंने इस अभियोग और फैसले को प्रिवी कौन्सिल के फैसलों के समान बताया था। इतना ही नहीं, न्याय की आपने प्रतिष्ठा भी की। सन् १९३६ की बात है। यू० पी० व्यवस्थापिका सभा में कुछ सदस्यों ने जजों के न्याय व निर्णयों के सम्बन्ध में प्रश्न पूछे। शाह साहब ने उनके उत्तर देने से इन्कार कर दिया। इस पर सभापति ने अपने भाषण में इस रुख की आलोचना की, तो आपने वैधानिक प्रमाण देते हुए कहा था कि इस प्रकार के समस्त कार्यों की जिम्मेदारी हाईकोर्ट पर है, सरकार पर नहीं। आपके साहस और दबंग नीति से लोग चकित रह गए थे।

कहने का तात्पर्य यह है कि कानून के क्षेत्र में आपने बड़ा मान और पद प्राप्त किया। यह उनका ऐसा जीवन था जो प्रारम्भ से अन्त तक अपने आरोह-क्रम को प्रत्यक्ष दिखाता चला आ रहा था। इसके विपरीत उनका एक दूसरा जीवन था। वह सरस्वती नदी की भाँति अप्रकट था। जब प्रकाशित हुआ तो लोगों के विस्मय का ठिकाना न रहा। यह था आपका वैज्ञानिक जीवन, जिसकी साध आपको शैशव-काल से ही थी। जब आप प्रयाग में थे तो अपने वैज्ञानिक अनुशीलन को अपने आप ही चलाते रहते थे। पर उसमें दृढ़ता और विस्तीर्णता लाने के लिए आपने डा० साहा का सहयोग प्राप्त किया। डा० साहा

की सिफारिश से आपको डा० डी० एस० कोठारी का भी सहयोग मिल गया। इन दोनों के सहयोग से शाह साहब अपना अनुसन्धान करने लगे। दिल्ली आने पर श्री रामनिवास राय का भी सहयोग आपको मिल गया था। बाहर के सहयोग और हृदय के अपने विज्ञानानुराग से आप इस ओर अनुशीलन में लगे रहे। चाहे आप कितने ही व्यस्त थे—चूंकि आपका कार्य ही बड़ी व्यस्तता का था—तो भी आप अपनी साधना के लिए समय निकाल ही लेते थे और उसका फल भी आपने बहुत बड़ा प्राप्त किया।

डा० सुलेमान ने सापेक्षवाद (Theory of Relativity) की समस्या को हल करना प्रारम्भ किया। कार्य बड़ा कठिन था। सापेक्षवाद को समझने वाले ही बहुत कम थे। उस पर आलोचना करके उसकी अशुद्धि निकालना तो बहुत दूर की बात थी। सर सुलेमान ने इसी समस्या की अशुद्धियाँ बताईं और अपनी गवेषणाओं से उन्हें शुद्ध कर विज्ञान-संसार में एक नवीन लहर पैदा कर दी। आपके अनुसन्धानों की देश-विदेश दोनों में बड़ी आलोचनाएं हुईं। बहुत से लोगों ने उसे नहीं माना। पर इस विषय में प्रयोग करने पर जो प्रमाण मिले वे शाह साहब के विचारों की ही पुष्टि करते थे; इस लिये विरोधी विचार बदल गए।

पहले न्यूटन का गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त सही माना जाता था। उसके आधार पर सूर्य, पृथ्वी और चन्द्रमा की गति का संतोषजनक समाधान होने के साथ नवीन ग्रहों के अन्वेषण में भी सहायता मिलती थी। केवल एक कमी इसमें थी; बुध के भ्रमणवेग में होने वाले वेगान्तर (एक शताब्दी में ४२ मिनट) का समाधान ठीक नहीं होता था।

इंस्टीन ने बहुत से अनुसंधान इस विषय में किये और अपना एक नवीन सापेक्षवाद निकाला। उससे बुध के वेगांतर का समाधान हो गया। साथ ही उन्होंने इस सिद्धांत के अनुसार सूर्य की प्रकाश-रश्मियों के बारे में जो भविष्यवाणी की थी वह प्रयोग करने पर वैसी ही निकली जैसी

कि सापेक्षवाद के हिसाब से आती थी। इससे वैज्ञानिकों का विश्वास सापेक्षवाद पर जम गया।

सापेक्षवाद स्थिर हो गया और सार्वभौम स्वीकृति पा गया। परन्तु फिर भी ऐसे वैज्ञानिक विभिन्न देशों में थे जो सापेक्षवाद को स्वीकार करने के लिए विवश होते हुए भी उसे सत्य नहीं मानते थे। उनका उस पर संदेह था। सर सुलेमान भी उनमें से एक थे। उन्होंने सोचा कि न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण सिद्धांत का प्रयोग ज्योतिष सम्बन्धी गणनाओं में ठीक नहीं किया गया है। इन गणनाओं में असल में गुरुत्वाकर्षण के वेग को अनंत माना था। ऐसा मानने पर आकर्षण का हृदय चाहे चल हो या अचल, कोई अंतर नहीं पड़ता। पर सर सुलेमान ने निश्चय किया कि इस वेग को अनंत मानने के प्रबल प्रमाण नहीं हैं। दूसरे, इससे बुध का वेगांतर सिद्ध नहीं होता, इसलिए वेग को अनंत के स्थान पर सीमित माना और प्रकाश की किरणों के समान सिद्ध किया। इसके अनुसार उन्होंने सौरमण्डल के ग्रहों की चाल के मान प्राप्त किए। वे हूबहू वे ही निकले जो इंस्टीन के सापेक्षवाद से आते थे। आगे उन्होंने बुध के भ्रमण के वेगान्तर को जांचा तो उसका समाधान हो गया। इसके अतिरिक्त पृथ्वी, मंगल आदि के भ्रमण-पथों के बारे में भी महत्वपूर्ण फल प्राप्त किए जो वास्तविक घटनाओं के अनुकूल थे।

आपके प्रकाश-गति के जो समीकरण थे वे इंस्टीन से भिन्न थे। सर सुलेमान ने अपनी सचाई की भली-भांति जांच करने के बाद अपने सिद्धांत निर्भीकता से प्रकाशित कर दिये। उसी समय १९ जून सन् १९३६ का सूर्य-ग्रहण पड़ा था। उससे कई तारीखें पहले आपने घोषणा की कि इंस्टीन के सिद्धान्त के अनुसार ग्रहण से जो मान प्राप्त होते हैं वे वास्तविक घटनाओं के मान से कम होंगे।

सूर्य-ग्रहण के समय सूर्य के पीछे स्थित नक्षत्रों की किरणों को सूर्य अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है, अतः वे इस ओर झुक जाती हैं। गुरुत्वाकर्षण के सिद्धांत से इस झुकाव का जो मान प्राप्त होता है,

सापेक्षवाद से आने वाला मान उससे दूना है। यह कुछ वास्तविक घटनाओं से मिलता तो था, पर सारा नहीं मिलता था। वास्तविक झुकाव सापेक्षवाद के मानों से भी अधिक था। सर सुलेमान ने अपने प्रकार से जो मान प्राप्त किए तो सापेक्षवाद के मानों से भी ३० प्रतिशत अधिक आए; इससे बहुत अन्तर भी समाहित हो गया। इन सारी घटनाओं से सर सुलेमान ने अपने अनुसन्धानों को सत्य प्रमाणित कर कुछ परिवर्तनों व परिवर्धनों के साथ गुरुत्वाकर्षण को ही ठीक समझा। जून १९३६ के सूर्य-ग्रहण का रूसी वैज्ञानिक ए. ए. मिचेलिव ने भी निरीक्षण किया। वह सुलेमान के मानों के ही अनुकूल था। इस प्रकार इनके सिद्धांतों की बाहर तथा देश में काफी परख हुई और इसके बाद वे स्वीकृत हुए। इसी प्रकार सर साहब ने रेडियंस, ग्रेविटंस तथा प्रकाश के सूक्ष्मकण आदि की नवीन कल्पनाएं की हैं, जो अभी तक प्रयोग में नहीं आईं।

विज्ञान और कानून के अतिरिक्त सामाजिक कामों में वे बड़ा हिस्सा लेते थे। नेशनल एकेडेमी प्रयाग के आप बहुत काल तक सदस्य रहे थे। इसी के फरवरी १९४१ में दिल्ली में होने वाले अधिवेशन के वे सभापति बनाए गए थे।

अलीगढ़ विश्वविद्यालय में आपकी बड़ी सेवायें हैं। उसके वाइस-चान्सलर निर्वाचित होने पर तो आपने बड़ा परिश्रम किया। विश्व-विद्यालय का सारा वातावरण ही बदलकर उसे प्रगतिशील बना डाला। पुरानी दकियानूसी पद्धति समाप्त कर दी। उसकी आर्थिक स्थिति भी आपने बड़ी सुधारी। प्राय: प्रत्येक सप्ताह में दिल्ली से वे अलीगढ़ आया करते थे। अलीगढ़ विश्वविद्यालय की उन्नति का बहुत कुछ श्रेय सर सुलेमान को है।

प्रौढ़ शिक्षा के वे हामी थे। उसका विस्तार चाहते थे। साम्प्रदायिक आधार पर शिक्षा को विभाजित करने की उन्होंने कड़ी आलोचना की गई। वास्तव में वे विशुद्ध ज्ञानवादी थे।

स्वभाव के अत्यन्त नम्र थे। अभिमान आपको छू भी न गया था। मिलनसार इतने थे कि छुट्टियों में छोटे-से-छोटा कर्मचारी आपको मिल सकता था। छोटे बड़े सभी से प्रेम से मिलते थे। अपने धर्म के कट्टर अनुयायी थे। साथ ही सबसे बड़ा गुण उनमें था कठिन परिश्रम और अपने लक्ष्य पर दृष्टि रखने का। इतने बाह्य कार्यों में व्यस्त होकर भी इतने ऊंचे वैज्ञानिक अनुशीलन कर दिखाना डॉ० सर सुलेमान का ही काम था।

महान् गणितज्ञ श्री श्रीनिवास रामानुजन्

महर्षि वाल्मीकि के करुणामय हृदय से काव्य की सुरसरी अनायास ही बह चली थी, क्योंकि महर्षि का हृदय काव्यमय था। महर्षि और काव्य में अन्तर नहीं किया जा सकता। ठीक उसी प्रकार महान् गणितज्ञ श्रीनिवास रामनुजन् का मस्तिष्क और हृदय गणितमय था। उनके मस्तक से गणित-विज्ञान की स्वाभाविक गंगा बही। हमारे ऋषियों को अपूर्व ज्ञान का अपने आप साक्षात्कार कैसे हो जाता था, इसका ज्वलन्त उदाहरण श्रीनिवास रामानुजन् थे। उन्होंने अपनी अलौकिक प्रतिभा से थोड़े समय में ही भारत को चकित कर दिया था।

आपका जन्म मद्रास प्रान्त के एक इरोदा नाम के छोटे से गांव में अपने नाना के घर हुआ। इनके पिताजी कुम्भकोनम् के निवासी एक साधारण परिस्थिति के व्यक्ति थे। कपड़े के व्यापारियों की दुकान के मुनीम थे। रामानुजन् ने अपने महत्त्व का कोई कारण अपनी वंश-परम्परा से नहीं लिया। कहते हैं, इनका जन्म देवी की आराधना का प्रसाद था।

आपकी प्रारम्भिक शिक्षा दो साल तक गांव में हुई। फिर कुम्भकोनम् हाईस्कूल में आपका प्रवेश हुआ। होने वाली घटनाओं की छाया पहले ही पड़ जाती है। रामानुजन् स्कूल में ही फिलासफर के स्वभाव के बन गए। शान्त रहते और बहुत कम बोलते; क्योंकि हर समय कुछ-

न-कुछ सोचते रहते थे। और सोचते भी थे गणित। एक बार आपके अध्यापक कक्षा को पढ़ा रहे थे कि किसी संख्या को उसी संख्या से भाग देने पर भजनफल एक आता है। रामानुजन् फौरन ही बोले, क्या यह नियम शून्य पर भी लागू होता है? यह बात तीसरे दर्जे में पढ़ते समय की है। तीसरे दर्जे में ही बीजगणित की प्रसिद्ध तीनों रीतियां रामानुजन् ने सीख ली थीं। चौथे दर्जे में पढ़ते समय आपने एक बी० ए० के छात्र से त्रिकोणमिति की पुस्तक माँगी। वह छोटे से बालक की इस मांग पर आश्चर्य-चकित हुआ, और उसका ऐसा भाव स्वाभाविक था। पर रामानुजन् के आग्रह करने पर पुस्तक दे देने पर और भी उसका आश्चर्य बढ़ गया जब कि उसने देखा कि यह जन्म-जात गणितज्ञ उसके प्रश्नों को निर्बाध रूप से हल करता जा रहा है।

सन् १६०३ में जब रामानुजन् १७ वर्ष के थे तो आपने मैट्रिक परीक्षा पास की और प्रथम श्रेणी में आए। सरकारी छात्र-वृत्ति आपको मिली। आगे एफ० ए० में प्रवेश होगया। इन्टरमीडियेट के अध्ययनकाल में आप गणित-साधना में इतने व्यस्त रहते कि दूसरे विषयों में पिछड़ गए; इन्टरमीडियेट के प्रथम वर्ष में ही असफल होगए। परिणामस्वरूप छात्रवृत्ति बंद हो गई; मजबूरी अध्ययन भी बन्द होगया। इसका असर रामानुजन् के लक्ष्य पर अच्छा ही पड़ा। अब वे घर पर सारा समय गणित-साधना में लगाने लगे। इस विषय को पढ़ते तो वे पहले भी किसी से न थे। इसी बीच में आपकी शादी भी हो गई और कुटुम्ब का भार आ पड़ा। आर्थिक कठिनाइयों ने आपको घेर लिया। आखिर, न चाहते हुए भी, आपने नौकरी की तलाश की। इस सिलसिले में आपने बहुत से महापुरुषों से मुलाकातें कीं, जो विज्ञान का इतिहास बन गई हैं। कुम्भकोनम् के कालेज के गणिताचार्य श्री पी. वी. शेषु अय्यर के पत्र के साथ नेल्लोर के कलक्टर दीवानबहादुर श्री. आर. रामचन्द्र राव से आप मिले। उस भेंट का वर्णन उन्होंने स्वयं इस प्रकार किया है:—

"..........वह युवक अपनी कापी खोलकर अपनी कतिपय खोजें

मुझे समझाने लगा। मैं तत्काल ही समझ गया कि युवक कुछ असाधारण बातें बता रहा है; परन्तु अज्ञानता वश यह निश्चित न कर सका कि वे सब बातें कितनी महत्त्वपूर्ण हैं। अस्तु, मैंने उससे इस सम्बन्ध में कुछ भी न कहा। हां, उससे कभी-कभी अपने पास आजाने को ज़रूर कह दिया। वह मेरे पास आने-जाने लगा और धीरे-धीरे मेरी गणित की योग्यता को समझ गया। उसने मुझे अपने कुछ सरल सिद्धान्त समझाए। वे भी वर्तमान पुस्तकों से आगे बढ़े हुए थे। इन सिद्धान्तों की व्याख्या इतनी उत्तमतापूर्वक की गई थी कि मैं देखकर दंग रह गया और मुझे यह बात मन-ही-मन स्वीकार करनी पड़ी कि रामानुजन् एक असाधारण योग्यता का युवक है। धीरे-धीरे उसने मुझे कुछ और महत्त्वपूर्ण खोजों का हाल बतलाया और अन्त में केन्द्र विचल श्रेणियों के सिद्धान्त का भी जिक्र किया। मैं क्या, समस्त संसार उस समय तक इस सिद्धान्त से अनभिज्ञ था।"

अस्तु, आप जिससे भी मिलते वह आपकी गणित की योग्यता से आश्चर्य में पड़ जाता और आपका बन जाता। पर आप केवल मैट्रिक परीक्षा ही पास थे। इसलिए कोई अच्छी नौकरी न मिल सकी। मद्रास के पोर्ट ट्रस्ट में ३०) की क्लर्की मिली। इस नौकरी का गणित के अनुसन्धानों से कोई सम्बन्ध नहीं था; रामानुजन् की साधना रुक सकती थी। पर रामानुजन् तो गणितमय थे; उन्हें किसी भी दशा में गणित से पृथक् नहीं किया जा सकता था। वहां भी आपकी साधना चलती रही। आपके मित्रों ने आपकी सूझ कुछ पत्रों में भी प्रकाशित कराई। इधर आपकी योग्यता से परिचित अधिकारियों की सहानुभूति आपकी ओर बढ़ती गई। परिणामस्वरूप मद्रास विश्वविद्यालय से ७५) मासिक छात्र-वृत्ति आपको मिली, ताकि वैज्ञानिक मस्तक क्लर्की में ही न फंस जावे। इसके लिये डा० वाकर ने विशेष प्रयत्न किया था।

उस छात्र-वृत्ति के मिलने से श्री रामानुजन् ने नौकरी छोड़ दी और सर्वतोभावेन गणित में ही लग गए। भिन्न-भिन्न पत्रिकाओं में आपके

लेख निकलने लगे। उनके कतिक आपके मित्रों ने ट्रिनिटी कालेज के फैलो प्रसिद्ध गणितज्ञ डा० हार्डी के पास भी भेजे। परिणामस्वरूप आपका पत्र-व्यवहार उनसे हुआ। इससे डा० हार्डी की इच्छा हुई कि श्री रामानुजन् विलायत जावें; पर सामाजिक बन्धनों ने आपको प्रथम बार वहां नहीं जाने दिया। ट्रिनिटी कालेज के गणित-अध्यापक श्री ई० एच० नेबिल जब भारत आए तो विशेष रूप से वे श्री रामानुजन् से मिले। आपकी योग्यता से वे भी चमत्कृत हो गए। आपने मद्रास विश्वविद्यालय से बहुत आग्रह किया कि उन्हें विलायत भेजा जावे। उनके पत्रों के वाक्य विशेषतया स्मरणीय हैं। उनमें से कुछ ये हैं—"श्री रामानुजन् की प्रतिभा का संसार के समक्ष उद्घाटन गणित-संसार में हम लोगों के समय की सर्वोत्कृष्ट घटना होगी। इत्यादि।"

फलस्वरूप मद्रास विश्वविद्यालय ने २५० पौंड वार्षिक की छात्र-वृत्ति स्वीकार की और १७ मार्च १९१४ को श्री रामानुजन् विलायत चले गये। वहाँ केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के आचार्यों ने आपका ६० पौंड वार्षिक छात्रवृत्ति देकर स्वागत किया। अब वे विज्ञान-संसार के महारथियों के सम्पर्क में आए और डा० हार्डी तथा प्रो० लिटिलवुड की सहायता से उत्तरोत्तर बढ़ने लगे। डा० हार्डी ने मद्रास विश्वविद्यालय को पहली रिपोर्ट में लिखा था कि "रामानुजन् की अलौकिक प्रतिभा में कोई सन्देह नहीं हो सकता। कई प्रकार से वे मेरे जान-पहचान के सभी गणितज्ञों से अधिक प्रतिभाशाली हैं।" विलायत में आपके ज्ञान और प्रतिभा की धाक जम गई।

२८ फरवरी १९१८ ई० को आप रायल सोसायटी के फैलो बनाए गए। साथ ही ट्रिनिटी कालेज के फैलो भी चुने गये। ध्यान रहे कि रायल सोसाइटी के भारतीय सदस्य आप पहले ही थे। इन सम्मानों का आप पर कितना असर पड़ा, इसका अनुमान डा० हार्डी के उस पत्र से होता है जो उन्होंने मद्रास विश्वविद्यालय को लिखा था। उसके कुछ वाक्य ये हैं:—"सफलता से उनकी सहज सरलता में कोई अन्तर नहीं

आया है। वास्तव में आवश्यकता इस बात की है कि उन्हें अनुभव कराया जावे कि वे सफल हुए हैं।" इसका असर यह तो अवश्य हुआ कि वे अपने अनुशीलनों की ओर और अधिक सचेष्ट हो गए। ट्रिनिटी कालेज ने भी आपको २५० पौंड वार्षिक छात्र-वृत्ति दी थी। वह छः वर्ष तक आपको मिलती रही।

छात्र-वृत्ति देते समय हार्डी ने रामानुजन् के विषय में मद्रास विश्वविद्यालय को लिखा :—"रामानुजन् इतने बड़े गणितज्ञ होकर भारत लौटेंगे जितना आज तक कोई भारतीय नहीं हुआ है। मुझे आशा है कि भारतवर्ष इन्हें अपनी अमूल्य सम्पत्ति समझ कर इनका उचित सम्मान करेगा।"

२७ फरवरी १९१९ ई० को आप देश वापिस आ गये। पर उस समय वे रोगी थे। अच्छे-से-अच्छी चिकित्सा आपके मित्रों ने की; पर दैव को यह इष्ट न था कि उनकी प्रतिभा का लाभ उनका अपना देश भी उठाता। २६ अप्रैल १९२० ई० को इस महापुरुष का स्वर्गवास हो गया। मृत्यु के समय तक उनका मस्तक अपने विषय के गूढ़ सिद्धांतों पर काम करता रहा था। Mock Theta Functions पर उनका सब काम मृत्यु-शय्या पर ही हुआ था।

उनके अधिकांश लेख लन्दन की मैथमैटिकल सोसायटी और कैम्ब्रिज की फिलासोफिकल सोसाइटी की मुख-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं। अपसृत श्रेणियों के नवीन सिद्धांत को जन्म देने और उन्नत बनाने का श्रेय भी श्री रामानुजन् को ही है। रामानुजन् के सब छपे मौलिक निबन्धों का संग्रह डा० हार्डी, डा० बी० एम० विलसन तथा शेषुआयर जी की सम्पादकता में कैम्ब्रिज यूनीवर्सिटी प्रेस से प्रकाशित हुआ है। वैसे तो रामानुजन् के समीकरण सिद्धांत, सीमित, अनुकूल, अनन्त श्रेणियाँ* आदि सभी काम निराले थे, परन्तु उनके संख्या सिद्धांत,

---

*"Theory of Equations" "Definite Integrals"

विभाजन सिद्धांत, दीर्घवृत्तीय फल और वितत भिन्न सम्बन्धी गवेषणायें उनके सर्वोत्कृष्ट कार्य समझे जाते थे।

आपके बहुत से और भी काम हैं जो अब तक अप्रकाशित हैं। मद्रास विश्वविद्यालय, विलायती तथा देशीय विशेषज्ञों के सम्पादन में उनके प्रकाशन का प्रबन्ध कर रहा है। उनसे हमें और भी अधिक लाभ होगा।

देखने की बात यह है कि श्री रामानुजन् का इतना उच्च ज्ञान बिना अध्ययन के ही हुआ था। यदि नियमित रूप से आपका अध्ययन होता तो आशा है कि संसार को एक अपूर्व चमत्कार आपके द्वारा प्राप्त होता। हमारा देश तो इतना अभागा है कि हीरे की पहचान भी दूसरों के द्वारा करता है, स्वयं नहीं। कुछ दैव अनुकूल था कि रामानुजन् विदेश आकर प्रसिद्धि प्राप्त कर गए; नहीं तो क्लर्की ही में उनका समस्त जीवन जाता। यदि रामानुजन्-सा युवक विदेशों में होता तो संसार उनके प्रभाव से आश्चर्य-चकित हो जाता। फिर भी इस जन्म-जात गणिताचार्य ने बाधाओं के पत्थरों को तोड़कर अपने मौलिक ज्ञान की गंगा बहा ही दी।

डॉ० सर शान्तिस्वरूप भटनागर

भेरा पंजाब के पुरुष-रत्नों की खान समझा जाता है। उसी प्रसिद्ध स्थान में सर शान्तिस्वरूप भटनागर डी० एस-सी०, एफ० आई० सी० एफ० आई० पी०, ओ० बी० ई० का जन्म २१ फरवरी १८९४ को हुआ। आपके पिता ला० परमेश्वरीसहाय लाहौर के डी. ए. वी. हाई स्कूल के अध्यापक थे। वे बड़े अध्यवसायी थे। पढ़ाते-पढ़ाते आपने बी. ए. पास कर लिया था। उसके थोड़े समय बाद ही आपकी असामयिक

"Infinite Series" "Theory of Numbers" "Theory of Partitions" "Elliptic Functions" "Continued Fractions".

मृत्यु हुई। बालक शान्तिस्वरूप उस समय सिर्फ आठ मास के थे। पिता की मृत्यु के समय तो लोगों को इनके अक्षर-ज्ञान में भी संदेह होगा। पर नियति ने कुछ और ही निश्चित कर रखा था।

पिता की मृत्यु के बाद लगभग आठ वर्ष की आयु तक आपकी प्रारम्भिक शिक्षा आपके नाना मुंशी प्यारेलालजी की संरक्षकता में सिकन्दराबाद के ए० वी० हाई स्कूल में हुई। बाद में ला० परमेश्वरी-सहाय के अनन्य मित्र रायसाहब ला० रघुनाथसहाय ने, जो उन दिनों दयालसिंह हाई स्कूल के हेडमास्टर थे, आपकी शिक्षा का भार अपने ऊपर ले लिया और आप लाहौर में ही पढ़ने-लिखने लगे। बालकपन से आपके भावी चिह्न मालूम पड़ने लगे थे। आपकी तीक्ष्ण बुद्धि और तर्क-प्रवीणता इतनी अच्छी थी कि कक्षाओं के अध्यापकों ने कई बार आपकी हेडमास्टर से शिकायत की कि यह मास्टरों को सवाल पूछ-पूछ कर तंग करता है।

आप आठवें दर्जे में सम्मान के साथ उत्तीर्ण हुए और सरकारी छात्र-वृत्ति मिली। सन् १९११ में हाई स्कूल परीक्षा पास की और दयालसिंह कालेज में प्रविष्ट हो गए। कालेज में प्रसिद्ध वैज्ञानिक प्रो० रुचिराम साहनी के आप अत्यन्त स्नेह-भाजन बन गए। आपके इन्टरमीडियेट के प्रथम वर्ष की एक विशेष घटना लिखे बिना आगे नहीं चला जा सकता।

भारत के वैज्ञानिक-रत्न आचार्य जगदीशचन्द्र वसु पंजाब यूनी-वर्सिटी के निमंत्रण पर भाषण देने के लिए लाहौर आए थे। प्रो० रुचिराम साहनी ने भाषण के समय प्रयोग-प्रदर्शन की सहायता के लिए डॉ० वसु को अपने अनेकों शिष्य दिखाये, तो वसु ने सब में से श्री भटनागर को ही चुना। आप इन्टरमीडियेट के प्रथम वर्ष में थे, बी० एस-सी० के भी छात्र वहां थे। डॉ० वसु ने आपकी वैज्ञानिक प्रतिभा का दूर से ही निरीक्षण कर लिया। अपने बालकपन के इस चुनाव से, जो एक महान् वैज्ञानिक के हाथों हुआ था, भटनागरजी की

महत्त्वाकांक्षा और साहस दूने बढ़ गए।

बी० एस-सी० परीक्षा में समय के प्रबल प्रभाव से भारत का भावी महान् रसायनाचार्य रसायन विषय में फेल हो गया। अगले वर्ष आपने बी० एस-सी० पास की। इसी समय रायसाहब ला० रघुनाथसहायजी की सुपुत्री लाजवन्ती से आपका विवाह भी हो गया। बी० एस-सी० के बाद कालेज से आपने एम०एस-सी० परीक्षा आगे के दो वर्षों में उत्तीर्ण कर डाली। थोड़े समय जीविका-निर्वाह के लिए आपने दयालसिंह कालेज में डिमोंस्ट्रेटर का भी काम किया। इसी कालेज के वजीफे पर फिर आप विशेष अध्ययन के लिए विदेश चले गए। वहाँ लन्दन यूनिवर्सिटी के साइन्स कालेज में भर्ती हो गए और सर विलियम रेमज़े इन्स्टीट्यूट में प्रो. एफ. जी. डोनन की देख-रेख में अनुसन्धान प्रारम्भ कर दिया। यहां से अवकाश मिलता तो जर्मनी के प्रसिद्ध कैसर विल्हैल्म-इन्स्टीट्यूट तथा पैरिस की प्रसिद्ध विज्ञान संस्था सारबोन में भी अध्ययन करने चले जाते थे। आपके अध्यवसाय से प्रसन्न होकर प्रिवी कौंसिल के इन्डस्ट्रियल रिसर्च विभाग की ओर से आपको ६००) मासिक छात्रवृत्ति भी मिलती थी।

१६२१ ई० में उसी विश्वविद्यालय से डी० एस-सी० उपाधि प्राप्त कर आप देश को वापस आ गए। आते ही ५००) मासिक पर काशी विश्वविद्यालय में प्रोफेसर नियुक्त हो गए। आप शीघ्र ही काशी विश्व-विद्यालय में सर्वप्रिय बन गए और वहां आपने अल्प कार्य-काल में ही अनेकों अनुसन्धान के कार्य किये। १६२३ में लिवरपूल में होने वाली ब्रिटिश वैज्ञानिकों की कान्फ्रेंस में आपने काशी विश्वविद्यालय का प्रति-निधित्व बड़ी चतुरता के साथ किया था।

लिवरपूल में आपके जाने और काशी विश्वविद्यालय में लगन तथा विद्वत्ता से काम करने से आपकी ख्याति अपने देश और विलायतों में फैल गई। इससे पंजाब यूनिवर्सिटी ने आपको अपना प्रोफेसर तथा यूनिवर्सिटी रसायनशालाओं का डाइरेक्टर १२५०) मासिक वेतन पर

नियुक्त किया। तब से आप लाहौर आ गए। यहां आकर आपको अनुसन्धानों के साधन अच्छे मिले। आपके अनुशीलन तथा खोजों को विलायत में भी बड़ा आदर प्राप्त हुआ।

पायस (Emulsions) सम्बन्धी अनुसन्धान का सूत्रपात आपने लन्दन में किया था। वह क्रम बनारस में भी अपने सहयोगियों के साथ जारी रखा था और लाहौर में आकर इस दिशा में अनेकों नवीन नियम और सूत्र आपने मालूम किये। इससे औरों को भी खोज करने का अवसर मिला। लाहौर में आपने पहले मौलिक और साधारण रसायन की कई समस्याओं, विशेषकर प्रकाश रसायन, पर काम किया। अणुओं एवं चुम्बकीय गुणों पर आपके कार्य विशेष उल्लेखनीय हैं। आपने सिद्ध कर दिया है कि अधि-शोषण एक रासायनिक क्रिया है। इसके परीक्षण के लिए आपने एक यंत्र भी तैयार किया है। अणुओं के चुम्बकीय गुण तथा रसायन सम्बन्धी चुम्बक-विज्ञान का आपने विशेष रूप से अन्वेषण किया है। इस विषय में आप संसार भर के प्रमुख वैज्ञानिकों में गिने जाते हैं। अपने सहकारी प्रो० के० एल० माथुर के साथ आपने एक ग्रंथ भी इस विषय पर लिखा है। वह मैकमिलन कम्पनी द्वारा छपाया गया है। इसके अतिरिक्त आपके मौलिक लेख भी १०० के लगभग अपने अन्वेषणों पर हैं।

औद्योगिक अनुसन्धान—पैट्रोलियम व्यवसाय के बारे में आपने बड़ा उपयोगी अनुसन्धान किया है। इसके अनुसार मिट्टी के तेल की रोशनी बढ़ जाती है। बिना गन्ध का मोम तैयार करना भी आप ही की खोज है। ये दोनों कार्य इंगलैंड के प्रसिद्ध व्यापारी स्टील ब्रादर्स के साथ पेटेन्ट हो चुके हैं। कपड़े के मिलों के गूदड़ से पश्मीना सिल्क बनाने की तरकीब भी आपने ही निकाली है। दिल्ली के प्रसिद्ध व्यापारी सर श्रीराम के पास इसके पेटेन्ट अधिकार हैं।

इसी प्रकार जूट के गूदड़ और बिनौले के तेल से आपने बेकलाइट प्रभृति अनेकों उपयोगी वस्तुएं बनाने की विधि निकाली। बनस्पति तेलों

की सहायता से रेलगाड़ियों के धुरों को चिकनाने वाले एक्सिल आयल भी आपने तैयार किये हैं। सीरे से टाइल्स बनाए हैं। चावलों के चूरे को फिर से चावल का रूप देने में आपने सफलता प्राप्त की है। इस प्रकार अनेकों उपयोगी खोजें आपने की हैं और आपके जीवन-काल में ही उनसे फायदा उठाया जा रहा है।

अनुसन्धानों से लाभ—जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, डा० भटनागर के अनुसन्धान उपयोगी अधिक हैं। इसलिए उनसे जहां व्यापारियों को अतुल लाभ हुआ है वहां आपको भी उसका फल मिला। खोजों के पेटेन्ट अधिकार जिनके पास हैं उनसे आपको अच्छी रायल्टी मिलती है। स्टील ब्रादर्स ने आपकी पैट्रोलियम सम्बन्धी खोजों पर एक बार डेढ़ लाख रुपया तथा दूसरी बार ढाई लाख रुपया दिया था। दोनों ही रकमें आपने पंजाब विश्वविद्यालय में दान कर दीं। इनसे अनुसन्धान कार्य चलता है। बिड़ला ने आपको २१०००) रु० दिया था, वह भी विश्वविद्यालय में ही दे दिया गया।

सरकार एवं समाज द्वारा सम्मान—आपके औद्योगिक अन्वेषणों की महत्ता का सरकार ने भी व्यापारियों के समान ही आदर किया। सन् १९३६ में सरकार द्वारा आपको ओ० बी० ई० की उपाधि मिली। सन् १९४० में भारत सरकार द्वारा आप "बोर्ड आफ इन्डस्ट्रियल एन्ड साइन्टिफिक रिसर्च" के डाइरेक्टर नियुक्त किये गए। युद्ध के बाद आवश्यक वस्तुओं के निर्माण की बहुत-सी कठिनाइयां आपने दूर कीं। अब यह सारा काम आपके निरीक्षण में चल रहा है। इस समय आप भारत सरकार के सर्वप्रमुख वैज्ञानिक परामर्शदाता हैं।

इसके अतिरिक्त देहली, कलकत्ता, ढाका, बम्बई, उस्मानिया, मैसूर, मद्रास, लखनऊ, प्रयाग और पंजाब के विश्वविद्यालयों के आप फैलो हैं। भारतीय विज्ञान कांग्रेस के मन्त्री तथा रसायन विभाग शाखा के अध्यक्ष आप दो बार बने हैं। आपकी लोक-विश्रुत कीर्ति के कारण ही लन्दन की संसार-प्रसिद्ध केमिकल सोसाइटी ने भी आपको अपना सदस्य बनाया

है। मई १६३८ में रोम में अन्तर्राष्ट्रीय रसायन-विज्ञान कांग्रेस में आपने भारतवर्ष का प्रतिनिधित्व किया था। इस प्रकार सरकार तथा समाज दोनों में ही बहुत ऊंचा सम्मान आप प्राप्त कर चुके हैं।

इसके अलावा अत्यन्त सराहनीय गुण आपमें यह है कि आप साहित्य-सेवी भी हैं। उर्दू में अच्छी कविता कर लेते हैं। हिन्दी में भी गद्य, पद्य अच्छा लिख लेते हैं। स्वभाव से सरल, निरभिमान और उच्च आदर्शों के अनुयायी हैं। छात्र-वत्सल आप इतने हैं कि मौन रूप से अपने निजी धन से बहुत से योग्य निर्धन छात्रों की सहायता करते रहते हैं।

आपको अपने में प्राप्त कर हमारे देश का गौरव बहुत बढ़ गया है।

सोलहवां भाग

हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति की एकता

पहले यह भली-भांति बताया गया है कि बहुत-सी बातों में भारतीय विचार-धारा, कला और विज्ञान को विदेशियों ने अपनाया है। बहुत से लोगों ने तो इसे इतना अपनाया कि वे विशुद्ध भारतीय ही हो गये। नदी समुद्र में मिलकर समुद्र ही कहलाने लगी। अपना नाम और रूप भी उसने छोड़ दिया। पर कुछ लोग ऐसे भी रहे हैं जो अपनेपन पर भी जमे रहे और इसमें मिल भी गये। ये हैं हमारे मुसलमान भाई। दो-चार अपवादों को छोड़कर इस जाति के शासक हमारे देश की प्रत्येक वस्तु से प्रेम करते रहे हैं। उन्हें इस बात का ख़याल ही नहीं आया था कि यह देश हमारा नहीं है और इसकी संस्कृति हमारी संस्कृति नहीं है। उनकी शासन-सत्ता की यमुना हमारी संस्कृति की गंगा से मिलकर एक अपूर्व तीर्थ उत्पन्न करती है।

धर्म

सबसे पहले धर्म को ही ले लें। इस देश के वेदान्त का दूसरा रूप ही सूफी मत है। यह देश में संस्कृति-सम्मिश्रण का ही फल था। भारत में जैसे तान्त्रिक लोग अपने यंत्र-मंत्र देकर समाज की श्रद्धा प्राप्त करते थे, उसी प्रकार मुसलमानों के फकीर घूमने लगे। देश में मन्दिरों और मठों में जो पुजापे, मेवा, मिठाई आदि की भरमार होती

थी वही चीजें ज्यों-की-त्यों मुसलमानों के महापुरुषों की समाधियों पर चढ़ने लगीं। इससे भी सन्तोष नहीं हुआ। अकबर ने तो 'दीने इलाही' के रूप में स्पष्ट ही दो धर्मों का संगम खड़ा कर दिया था।

विज्ञान

धर्म के समान विज्ञान में भी वही हाल है। मुसलमान राजाओं को ज्योतिष का बड़ा शौक था। राज-दरबार में ज्योतिषी रहते थे। यूनानी दवाइयों के योग बहुत से हमारे योगों से मिलते हैं। भारतीय वैद्य यूनानी दवाइयां बरतते थे और बरतते हैं; यूनानी वैद्य भारतीय दवाइयां बरतते हैं। दोनों तरफ बहुत कुछ रला-मिला काम चलता रहा था।

कला

सबसे अधिक सम्मिश्रण कला में हुआ। पहले दिखाया जा चुका है कि चित्र-कला के क्षेत्र में भारतवर्ष ने मुसलमान राजाओं को मन्त्र-मुग्ध कर दिया था। यद्यपि चित्र खींचना निर्गुण परमेश्वर के उपासक मुसलमानों के धर्मानुकूल कला नहीं थी, फिर भी उसकी खूबियों ने अपना रंग दे ही डाला। बाबर की जीवनी से पता लगता है कि उसके साथ अनेकों सिद्ध चित्रकार रहते थे। इसमें तो कोई शक नहीं कि उन्होंने पर्शियन चित्रकारी की चलन चलाई, पर वह यहां की कूंचों के साथ मिलकर एक नया रंग पकड़ गई। उसका विकास धीरे-धीरे अच्छा हुआ। 'सहज पके सो मीठा होय'। हुमायूं भी इसके बड़े प्रेमी थे। अकबर के पास तो चित्रकारों की एक अच्छी खासी पंचायत रहती थी। उसके द्वारा अकबर अपनी, अपने प्रेम-पात्रों की, अपने महापुरुषों की तथा हिन्दुओं के महापुरुषों की तस्वीरें खिंचवाया करता था। जहांगीर तो इस बात में सबसे बढ़ गए। जहां भी जाते थे अपने साथ चित्रकार अवश्य रखते थे। वे स्वयं तो चित्र खींचना नहीं जानते थे पर चित्र के हृदय में बैठना उन्हें बहुत अच्छा आता था। उस समय जैसे ऊंचे चित्र-

कार थे वैसे ही ऊंचे जहांगीर सरीखे पारखी भी थे। दूर-दूर तक अपने प्रतिनिधि भेजकर बढ़िया-बढ़िया तसवीरें उन्होंने जमा करवाई थीं। दक्ष चित्रकार बिशनदास को उन्होंने पर्शिया भेजा था। जहांगीर तो अपने चित्रकारों पर अभिमान भी करते थे। सर टामस रो से उन्होंने अपनी मुलाकात में इस बात का जिक्र किया था कि यहां उत्तम कलाकार रहते हैं। शाहजहां के हाथों भी इस कला का अभ्युदय होता रहा। जीवन की सरसता ज्यों-की-त्यों बनी रही।

गायन

चित्रकारी की ही क्या कहें, गाने का भी यही हाल था। भारतीय गायन पर मुसलमान बादशाह लट्टू थे। अकबर तो तानसेन का आश्रय-दाता भी था और सेवक भी। एक बार अकबर ने तानसेन से पूछा कि क्या तुमसे भी अच्छा गवैया हिन्दोस्तान में है। तानसेन ने कहा, 'जहांपनाह मेरे गुरु हरिदास स्वामी यमुना की कछारों में कान्हा की लीलाएं गाया करते हैं; वे मेरे से बहुत अधिक अच्छे हैं।' अकबर भला उनका गाना सुने बिना कैसे रहते! हरिदास तो ब्रजभूमि छोड़कर आ नहीं सकते थे। अकबर ही तानसेन के साथ चल पड़े। मेल-मुलाकात हुई। उन्होंने गाना सुनाने की हरिदास से प्रार्थना की तो उत्तर में निषेध मिला। अब बड़ी कठिनता हुई। आखिर तानसेन की चतुरता ने काम किया। तानसेन स्वयं गुनगुनाने लगे और जानकर गलती कर गए। हरिदास से न रहा गया। उछल पड़े और बोले 'यों नहीं, यों'। बस, स्रोत से पहले थोड़ा अमृत निकला, फिर नदी बह चली। उधर कान्हा की लीलाएँ गाई जा रही हैं, इधर भारत का सम्राट मन्त्र-मुग्ध खड़ा है। कह रहा है, 'अल्ला हो अकबर' एक ही भगवान् के दो रूप कैसे अच्छे लगते हैं। इसी प्रकार अन्य राजाओं ने भी ऐसा ही किया। औरङ्गजेब ने गायन-कला की गहरी कब्र भी खुदवाई, पर गाड़ा न जा सका। उनके बाद मुग़ल दरबारों में फिर यही कला अपना कौतूहल

दिखाने लगी ।

भवन-निर्माण

भवन-निर्माण कला में भी मुस्लिम संस्कृति का हिन्दू-संस्कृति से बड़ा मेल हुआ । बाद को हमारे मकान पर मुस्लिम प्रकार आकर बैठ गया, और मुसलमानों के सुन्दरतम ऐतिहासिक भवनों मे हिन्दू निर्माण-कला के चिह्न हैं । यह भी एक अपूर्व गंगा-जमुनी देश में चली थी ।

वेष-भूषा, त्यौहार आदि

मुसलमान बादशाहों ने हिन्दू त्यौहारों को अपना समझा । उनसे पूरा आनन्द उठाया । हुमायूँ की राखी ने इतिहास में क्या रंग खेला, यह छिपी हुई बात नहीं । यही नहीं, 'तुजके जहांगीर' में लिखा मिलता है :—"शनिश्चर को दशहरा पड़ा । इस दिन शाही घोड़े खूब सजाए गए और उनका शान से जुलूस निकाला गया ।" दिवाली भी इससे कम नहीं मनाई जाती थी । ऐसे चित्र मिलते हैं, जिनमें नूरजहां बेगम दिवाली का त्यौहार मना रही हैं । लन्डन वाले चेस्टर बीटी के चिर-संचित चित्र-पुंजों में, शाहजहां के एलबम से लिया गया ऐसा एक चित्र है जिसमें बादशाह जहांगीर होली मना रहे हैं ।

रीति-रिवाजों में भी यही हाल था । अक्सर मुसलमान बारान तुला-दान कराते थे । यह क्रम अकबर से औरङ्गजेब तक देखने में आता है । वेष-भूषा भी बहुत हद तक मिल चुकी थी । मारवाड़ का घाघरा और अंगिया शाही दरबारों में घुस गई थी । कुर्ती बेगमों के शरीर पर लिपट चुकी थी । हिन्दुओं के शरीर पर ढीले कुर्ते और अचकन पाजामा अच्छी शोभा देते थे ।

कविता

कविता-कला का विषय सर्वविदित है । रसखान आदि अनेकों ने इससे अपनी बुद्धि को सरस बनाया था ।

इस तरह प्रायः सभी तरह से हम मुसलमानों के साथ मिल चुके थे और मुसलमान हमारे साथ एक हो चुके थे। आज भी गांवों में बिना भेद-भाव के सभी रहते हैं। राजनीतिक स्वार्थों से चाहे हम कितने भिन्न हो लें, पर संस्कृति एक-सी ही बन चुकी है। मुसलमानों के धर्म, आचार, कला-विज्ञान में जो अच्छा है वह हम लोगों ने स्वीकार कर लिया है। इसी प्रकार हमारा अच्छा मुसलमानों ने। भेद की रेखा संस्कृति की नहीं, स्वार्थों की है। संस्कृति बहुत हद तक आपस में मिल चुकी है।